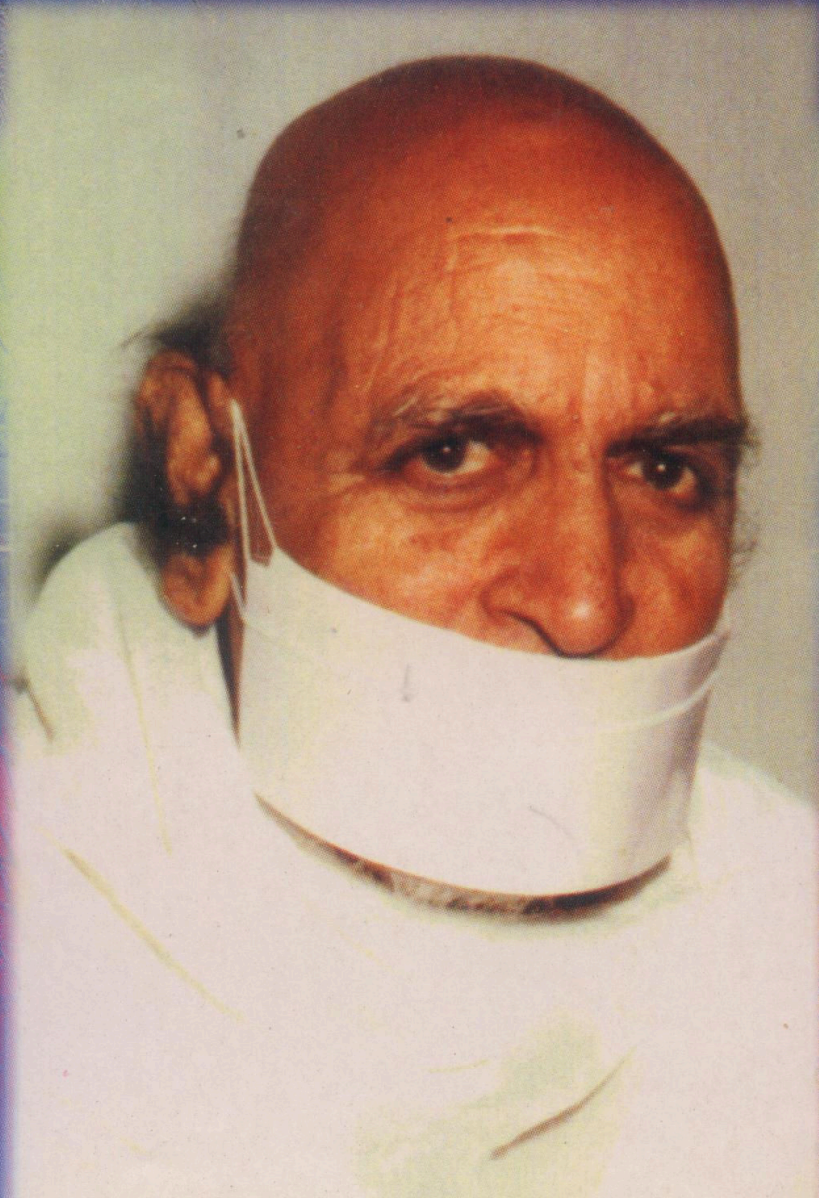


तुलसी वाङ्मय

सुधरे व्यक्ति, समाज व्यक्ति से

आचार्य तुलसी



तुलसी वाङ्मय

प्रवचन पाथेय ग्रंथमालाह्र२१

सुधरे व्यक्ति, समाज व्यक्ति से

आचार्य तुलसी

जैन विश्वभारती प्रकाशन
लाडनूं

• ————— •
दो

सुधरे व्यक्ति, समाज व्यक्ति से

आचार्य तुलसी

संपादक :

मुनि धर्मरुचि

प्रकाशक :

जैन विश्वभारती

लाडनू (राज.) ३०४३०६

© प्रकाशकाधीन

प्रथम संस्करण : २००३

मूल्य : रुपये मात्र

आवरण :

मुद्रक :

सांखला प्रिटर्श, सुगन निवास

चंदनसागर, बीकानेर ३३४००१ (राज.)

Sudray Viykit Samaj Viykit Se

ISBN 81

by Acharya Tulsi

Rs.00.00

चार

प्रस्तावना

कुछ व्यक्ति साहित्य-सृजन में प्रवृत्त होते हैं, कुछ व्यक्ति बोलते हैं और वह सहज साहित्य बन जाता है। आचार्य श्री तुलसी सिद्धपुरुष थे। उनकी वाणी में सिद्धि थी। उनका हर वाक्य एक शिक्षापद था। उन्होंने सुदीर्घ काल तक प्रवचन किया। यह कहना संगत नहीं होगा कि उनके प्रवचन जनता के लिए उपयोगी हैं। संगत यह होगा कि उनमें युग को नई दिशा, नई दृष्टि और नया दर्शन देने की क्षमता है।

मुनि धर्मरुचिजी इस विषय में लंबे समय से प्रयत्नशील हैं। उनका यह प्रयत्न वाङ्मय की वृद्धि में अवश्य हेतुभूत होगा।

मुंबई

१५ अप्रैल २००३

आचार्य महाप्रज्ञ

● ————— छह ————— ●

संपादकीय

गुरुदेव श्री तुलसी एक सृजनधर्मा आचार्य थे। उनका कर्तृत्व बहुमुखी था। एक अभियान के रूप में उन्होंने समाज-सुधार, राष्ट्र-सुधार और उससे भी आगे विश्व-सुधार की दिशा में बहुत कार्य किया। पर किसी भी समूह-सुधार का आधार वे व्यक्ति-सुधार मानते थे। व्यक्ति-सुधार की बात को नजर-अंदाज कर समाज-सुधार और राष्ट्र-सुधार की चर्चा करने का उनकी दृष्टि में कोई महत्त्व नहीं था। उन्हीं के शब्दों में 'मैं देख रहा हूँ, इन दिनों सुधार का स्वर चारों ओर बुलंदी पर है। सुधार की बात को, भले वह किसी भी स्तर पर क्यों न हो, अनुचित नहीं कहा जा सकता। वह तो प्रशस्य ही है। पर सुधार का प्रारंभ कहां से हो? मेरी दृष्टि में उसका शुभारंभ व्यक्ति को स्वयं से करना चाहिए। जो लोग स्वयं सुधरे बिना समाज-सुधार की लंबी-चौड़ी बातें करते हैं, उनकी मैं बहुत सार्थकता नहीं देखता।' इसलिए उन्होंने व्यक्ति-सुधार पर अपना ध्यान केंद्रित किया और उसे अपनी कार्य-पद्धति बनाया। अणुव्रत-आंदोलन उसी की फलश्रुति है। उसके माध्यम से वे व्यक्ति-सुधार के आधार पर समाज-सुधार, राष्ट्र-सुधार और विश्व-सुधार के अपने अभियान की दिशा में आगे बढ़ते रहे। 'अणुव्रत-गीत' की निम्नांकित पंक्तियां उनके उसी दर्शन और कार्य-शैली को प्रतिध्वनित करती हैं।

सुधरे व्यक्ति, समाज व्यक्ति से राष्ट्र स्वयं सुधरेगा।

'तुलसी' अणुव्रत सिंहनाद सारे जग में प्रसरेगा॥

प्रवचन करना उनकी कार्य-पद्धति का एक प्रमुख अंग था। उन्होंने लगभग छह दशकों तक प्रवचन किया। उनके प्रवचनों की प्रभावोत्पादकता और उसके परिणामस्वरूप घटित होनेवाले जीवन-रूपांतरण के अनगिन गांवों-शहरों में अनगिन लोग साक्षी हैं। उनके उपलब्ध प्रवचन *प्रवचन पाथेय ग्रंथमाला* के रूप संकलित-संपादित हो रहे हैं। विगत वर्षों में इस ग्रंथमाला के बीस पुष्प प्रकाशित होकर पाठकों के हाथों में पहुंच चुके हैं। अब इक्कीसवां पुष्प *सुधरे व्यक्ति, समाज व्यक्ति से* नाम से

प्रकाशित हो रहा है। इसमें सन १९६० के प्रवचन संकलित हैं। जैसाकि इसके नाम से ही स्पष्ट है, इसमें व्यष्टि-सुधार के माध्यम से समष्टि-सुधार की चर्चा है। साथ ही इस विषय से संबद्ध दूसरी बातों तथा अन्यान्य विविध विषयों की चर्चा भी इसमें समाविष्ट है। कुल मिलाकर इसकी सामग्री जीवन को सही दिशा देने की दृष्टि से पाठकों के लिए उपयोगी है, ऐसा कहना अन्यथा नहीं होगा।

इस कार्य के लिए गुरुदेव श्री तुलसी का परोक्ष तथा उनके यशस्वी पट्टधर आचार्य श्री महाप्रज्ञ का प्रत्यक्ष आशीर्वाद मुझे प्राप्त है। जीवन के किसी भी क्षेत्र में मिलनेवाली सफलता उनके आशीर्वाद का ही सुफल है। इस ग्रंथ की कार्य-संपन्नता पर उनके चरणों में अपनी श्रद्धासिक्त प्रणति समर्पित करता हूँ।

गुरुदेव के प्रवचनों का एक विशाल कोश अभी तक संपादित होना शेष है। कार्य की गुरुता को देखते हुए संपादन की गति बहुत मंद है। पूज्यवरों के आशीर्वाद से इसमें अपेक्षित त्वरता आएगी, ऐसी आशा है।

महाश्रमणी साध्वीप्रमुखा कनकप्रभाजी तुलसी वाङ्मय के संपादन के गुरुतर दायित्व का बड़े कुशलतापूर्वक निर्वहन कर रही हैं। चूंकि प्रवचन पाथेय ग्रंथमाला भी तुलसी वाङ्मय का एक अंग बन चुकी है, इसलिए इस कार्य के साथ वे सहज रूप से जुड़ गई हैं। उनकी प्रेरणा, प्रोत्साहन और दिशा-दर्शन मेरे लिए अत्यंत मूल्यवान है। उनके प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

शासन-गौरव मुनिश्री मधुकरजी के प्रति विनयांजलि समर्पित करता हूँ। उनका पथ-दर्शन मेरे हर कार्य में उपयोगी सिद्ध होता है।

भाई किशन जैन ने इस कार्य में निष्ठापूर्वक श्रम किया है। उसके प्रति प्रमोद भाव व्यक्त करता हूँ।

मुंबई

२६०२वीं महावीर जयंती

१५ अप्रैल २००३

मुनि धर्मरुचि

प्रकाशकीय

प्रातःस्मरणीय आचार्यश्री तुलसी की अमृत-वाणी प्रवचन पाथेय ग्रंथमाला के रूप में प्रकाशित हो रही है। जैन विश्वभारती इसको प्रकाशित कर अपने-आपको गौरवान्वित अनुभव कर रही है। विगत वर्षों में इस ग्रंथमाला के बीस पुष्प विभिन्न नामों से प्रकाशित हो चुके हैं। इसका इक्कीसवां पुष्प सुधरे व्यक्ति, समाज व्यक्ति से नाम से प्रकाशित होकर अब पाठकों के हाथों में पहुंच रहा है। आशा है, पिछले ग्रंथ-पुष्पों की तरह यह ग्रंथ-पुष्प भी जन-जन को जीवन की पौष्टिक खुराक और सम्यक दृष्टि देने में सफल होगा।

इन वर्षों में आचार्यश्री तुलसी का साहित्य तुलसी वाङ्मय के रूप में संकलित/संपादित हो रहा है। सुझाव आया कि प्रवचन पाथेय ग्रंथमाला को भी तुलसी वाङ्मय में समाविष्ट कर देना चाहिए। सुझाव उपयुक्त था। अतः अब यह ग्रंथमाला तुलसी वाङ्मय के एक महत्वपूर्ण अंग के रूप में प्रकाशित हो रही है। इससे इस ग्रंथमाला की व्यापकता और बढ़ेगी, ऐसी आशा है।

प्रस्तुत ग्रंथ का संपादन समादरणीय मुनिश्री धर्मरुचिजी ने अत्यंत मनोयोगपूर्वक किया है। उनके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करते हुए यह आशा करता हूं कि प्रवचन पाथेय ग्रंथमाला के संपादन का यह क्रम अनवरत गतिशील बना रहेगा, ताकि आचार्य श्री तुलसी की कालजयी वाणी जन-जन के हृदय को आलोक से भरती रहे।

आचार्य महाप्रज्ञ विद्यानिधि फाउंडेशन, मुंबई
भ. महावीर २६०२वां जन्म-कल्याणक दिवस
१५ अप्रैल २००३

भागचंद बरड़िया
मंत्री
जैन विश्वभारती, लाडनूं

● ————— दस ————— ●

आजकल समाज-सुधार की चर्चा जोर-शोर से चल रही है। जहां तक सुधार की चर्चा का प्रश्न है, उसे बुरा नहीं कहा जा सकता, भले वह किसी भी स्तर पर क्यों न हो। इस परिप्रेक्ष्य में समाज-सुधार की चर्चा भी अच्छी है। पर समाज-सुधार की प्रक्रिया क्या हो, उसका आधार क्या हो, यह प्रश्न इस संदर्भ में कोई भी व्यक्ति पूछ सकता है। मेरे चिंतन से समाज-सुधार का आधार व्यक्ति-सुधार है। क्यों? यह इसलिए कि समाज की मूल भित्ति व्यक्ति है। व्यक्ति-व्यक्ति के मिलने से ही समाज बनता है। पर मैं देख रहा हूं कि बहुत-से लोग व्यक्ति-सुधार की बात की अनदेखी कर रहे हैं। मेरी दृष्टि में वे एक भ्रांति पाल रहे हैं। उन्हें इस भ्रांति को तोड़कर इस यथार्थ को समझना चाहिए कि व्यक्ति-सुधार की बात को स्वीकार किए बिना समाज-सुधार की परिकल्पना कभी आकार नहीं ले सकती।



तुलसी वाङ्मय

आचार्य श्री तुलसी बीसवीं सदी के एक विशिष्ट पुरुष थे। उनका कर्तृत्व बहुमुखी था। अणुव्रत-आंदोलन के माध्यम से उन्होंने एक सफल धर्मक्रांति की, नैतिक एवं मानवीय मूल्यों की पुनःप्रतिष्ठा के लिए भगीरथ प्रयत्न किया। पदयात्राओं के द्वारा जन-जागरण का सघन अभियान चलाया। शिक्षा के क्षेत्र में जैन विश्वभारती संस्थान (मान्य विश्वविद्यालय) उनका महान अवदान है।

भारतीय वाङ्मय को भी उन्होंने बहुत समृद्ध बनाया। विभिन्न विधाओं में उन्होंने अनेक भाषाओं में साहित्य सरजा। जीवन के दूसरे दशक में प्रारंभ हुई उनकी साहित्य-साधना नवें दशक में प्रवेश कर जीवन के अंतिम समय तक चलती रही। उनका लेखन तो साहित्य बना ही, वाग्धारा भी साहित्य बनी। उनका तथा उनके व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व को उजागर करनेवाला साहित्य तुलसी वाङ्मय के रूप में संपादित हो रहा है। थोड़े विस्तार में तुलसी वाङ्मय का वर्गीकृत रूप इस प्रकार है।

● आत्मकथा साहित्य ● प्रवचन साहित्य ● यात्रा साहित्य
● कथा साहित्य ● जीवनवृत्त साहित्य ● निबंध साहित्य ● संदेश साहित्य ● संस्मरण साहित्य ● संवाद साहित्य ● विचार साहित्य
● संस्कृत साहित्य ● आख्यान साहित्य ● काव्य साहित्य ● पद्य साहित्य ● गीत साहित्य ● आदि आदि।

उनके साहित्य में कुछ ऐसा वैशिष्ट्य है कि आज भी उसमें वह ताजगी महसूस होती है, जो उसके रचना-क्षणों में थी।



१. सुधार की प्रक्रिया

अणुव्रत-आंदोलन प्रत्येक व्यक्ति का सुधार चाहता है। किंतु समाज की विषम/प्रतिकूल परिस्थितियों में यह संभव कैसे होह? समाज-सुधार के बिना व्यक्ति-सुधार हो सकेगाह? मैं इस बात को अस्वीकार नहीं करता कि समाज/समूह के वातावरण का प्रभाव व्यक्ति पर पड़ता है, तथापि मैं परिस्थितियों का कायल नहीं हूं। मेरी दृष्टि में परिस्थितियों के हाथों बिक जाना कायरता है। विषम और प्रतिकूल परिस्थितियों में भी व्यक्ति नैतिक बना रहे, यह अपेक्षित है। यही उसकी गरिमा के अनुरूप भी है। कवि के शब्दों मेंह

क्षमा शोभती उस भुजंग को, जिसके पास गरल हो।

उसको क्या, जो दंतहीन, विषरहित, विनीत, सरल हो।।

कहने का तात्पर्य यह कि अणुव्रत के संकल्पों को हर स्थिति में निभाना होगा। समाज और राष्ट्र के व्यक्ति-व्यक्ति को इस अभियान के साथ जुड़कर सहयोग देना होगा। मेरे चिंतन के अनुसार समाज-सुधार की प्रतीक्षा में रहने से कोई भी सुधार संभव नहीं होगा। राजा ने आदेश की भाषा में पौरजनों से कहाह'प्रत्येक नागरिक आज रात्रि में नगर के बाहर स्थित तालाब में एक लोटा दूध डाल दे।' आदेश सुनकर एक व्यक्ति के मन में विचार आया कि जब तालाब में हजारों-हजारों लोटे दूध गिरेगा ही, तब मैं दूध के स्थान पर एक लोटा पानी डाल दूं तो क्या फर्क पड़ता हैह? और उसका यह विचार देखते-देखते पूरे नगर में संक्रांत हो गया। प्रातःकाल राजा ने देखा, तालाब दूध के स्थान पर पानी से भरा है। यही स्थिति आज समाज की है। अतः साधारण और विशिष्ट सभी लोगों से यह अपेक्षा है कि वे बिना किसी की प्रतीक्षा किए व्यक्ति-सुधार के सूत्र को अपनाएं और उसकी शुभ शुरुआत स्वयं से करके युगधर्महअणुव्रत के कार्य में अपनी सहभागिता सुनिश्चित करें।

२. समाज-सुधार की प्रक्रिया

जरूरी है व्यक्ति-सुधार

मैं देख रहा हूँ कि आजकल समाज-सुधार की चर्चा जोर-शोर से चल रही है। जहाँ तक सुधार की चर्चा का प्रश्न है, उसे बुरा नहीं कहा जा सकता, भले वह किसी भी स्तर पर क्यों न हो। इस परिप्रेक्ष्य में समाज-सुधार की चर्चा भी अच्छी है। पर समाज-सुधार की प्रक्रिया क्या हो, उसका आधार क्या हो, यह प्रश्न इस संदर्भ में कोई भी व्यक्ति पूछ सकता है। मेरे चिंतन में समाज-सुधार का आधार व्यक्ति-सुधार है। क्यों? यह इसलिए कि समाज की मूल भित्ति व्यक्ति है। व्यक्ति-व्यक्ति के मिलने से ही समाज बनता है। पर मैं देख रहा हूँ कि बहुत-से लोग व्यक्ति-सुधार की बात की अनदेखी कर रहे हैं। मेरी दृष्टि में वे एक भ्रांति को पाल रहे हैं। उन्हें इस भ्रांति को तोड़कर इस यथार्थ को समझना चाहिए कि व्यक्ति-सुधार की बात को स्वीकार किए बिना समाज-सुधार की परिकल्पना कभी भी आकार नहीं ले सकती।

धर्म शुद्धि का साधन है

मैं इस बात को बहुत गहराई से अनुभव कर रहा हूँ कि जन-जीवन प्रतिदिन अशुद्ध होता चला जा रहा है। समाज में अनेक प्रकार की विकृतियाँ घर कर रही हैं। कारण भी अस्पष्ट नहीं है। कारण क्या है? कारण है धर्म की कमी। मैं मानता हूँ कि धर्म ही एक ऐसा तत्त्व है, जो व्यक्ति के जीवन का परिष्कार कर सकता है, समाज का सुधार कर सकता है। धर्म क्या है? धर्म एक तरीका है, पद्धति है। **आत्मशुद्धि-साधनं धर्मः।** धर्म आत्मा से संबद्ध है, जीवन-व्यवहार से संबद्ध है। धर्म आत्म-शुद्धि का साधन है, व्यक्ति, समाज एवं राष्ट्र की शुद्धि का साधन है, सशक्त साधन है।

धर्म जीवन है

कुछ लोग धर्म को मिटा देने की बात करते हैं। मैं नहीं मानता कि धर्म किसी के मिटाए मिट सकता है। वह तो अमर है, शाश्वत है। इसके बावजूद मैं उनसे कहना चाहता हूँ कि अगर धर्म को मिटा देंगे तो वे ज़िंदा कैसे रहेंगे? धर्म तो जीवन है। भोजन, पानी और श्वास से भी ज्यादा जरूरी है वह जीने के लिए। अतः धर्म को व्यवस्थित रूप में जन-जन के समक्ष रखा जाना चाहिए। मुझे ऐसा लगता है कि धर्म का जो रूप आज जनता के समक्ष है, वह ठीक नहीं है। इस कारण आज का शिक्षित और बौद्धिक जन-मानस उसको स्वीकार नहीं करना चाहता। यदि उसका मौलिक और व्यवस्थित रूप सामने होता तो यह स्थिति नहीं बनती।

अणुव्रत-आंदोलन के नाम से मैंने धर्म को व्यवस्थित रूप में जनता के सामने रखा। उसको रखने से मुझे यह महसूस हुआ कि इस आंदोलन की विचार-धारा जन-जन के जीवन-निर्माण का संबल है। अतः मैं आपसे बलपूर्वक कहना चाहता हूँ कि आप इस आंदोलन की विचार-धारा को विस्तार से समझें और उस पर गंभीरता से चिंतन करें। निश्चित ही आप धर्म के मौलिक एवं शुद्ध स्वरूप का साक्षात्कार कर सकेंगे।

कांकरोली

३ जुलाई १९६०

३. आज के युग की समस्याएं

संसार का प्रत्येक प्राणी सुख के लिए लालायित है, किंतु सुख बाहरी साधनों में नहीं, बल्कि आंतरिक साधनों में है। बाहरी सुख के साधन तो रोग की चिकित्सा की तरह हैं, जबकि वास्तविक सुख तो अंतस्तल में है। हम देखते ही हैं कि क्षुधाग्रस्त प्राणी बाहरी भोजन के बाद फिर क्षुधा से पीड़ित हो जाता है। आजकल बाहरी साधनों से ही सुख प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाता है। वास्तव में सुख और दुःख को समझने की आवश्यकता है। इच्छा की अपरिमितता दुःख का मूलभूत कारण है और इच्छाओं का निरोध सुख है। इच्छाओं को रोककर हम तमाम दुःखों से त्राण पा सकते हैं। जो सुख क्षणभंगुर है, वह सुख नहीं है। जिसमें दुःख न हो, वही सुख है। जैन-दर्शन के अनुसार व्यक्ति दो वस्तुओं को धारण करके सुख प्राप्त कर सकता है। वे हैं अहिंसा और अपरिग्रह। अहिंसा का प्रयोग राजनीति में भी हुआ और सफलता के साथ हुआ। आज अहिंसा एक विश्वव्यापी विचार बन चुका है। भले वह जैन-दर्शन की सूक्ष्म अहिंसा न हो, फिर भी एक सीमा तक अहिंसा के तत्त्व को सभी स्थान देते हैं। अहिंसा के दो रूप हैं मानसिक अहिंसा और कायिक अहिंसा। मानसिक अहिंसा का रूप इतना सूक्ष्म है कि किसी का बुरा सोचना भी हिंसा है। सभी प्राणियों को समान समझना हमारा लक्ष्य है। महावीर ने ढाई हजार वर्ष पहले स्याद्वाद का सिद्धांत रखा था। हर वस्तु को एक नहीं, अनेक दृष्टियों से देखना स्याद्वाद है। यह समन्वयवाद का प्रतीक है। आज प्रत्येक वस्तु को इसी दृष्टि से देखने की आवश्यकता है।

संसार के सभी प्राणी जीवन चाहते हैं, मरण कोई नहीं चाहता। पशु-पक्षी और एकेंद्रिय प्राणी सबमें चेतना है। इसीलिए प्राणी-मात्र की हिंसा अन्याय है। हालांकि सर्व हिंसा का त्याग गृहस्थ नागरिकों के लिए

कठिन है, तथापि आज हिंसा की मनोवृत्ति पर काबू पाना अनिवार्य है।

जाति-भेद की समस्या

जाति तथा वर्ग का भेद और आर्थिक वैषम्य वर्तमान युग की जटिल समस्याएं हैं। जाति-भेद की समस्या न केवल भारतवर्ष में, अपितु विदेशों में भी उग्र रूप धारण करती जा रही है। जाति-भेद की समस्या को मिटाने के लिए समय-समय पर प्रयास हुआ है, फिर भी आज हृदय-परिवर्तन नहीं हुआ। हिंदू-मुस्लिम समस्या को ही लीजिए। जातिगत द्वेष के कारण ही भारत वसुंधरा का विभाजन हुआ। रक्तपात हुआ। बावजूद इसके, वह समस्या तो आज भी है। मनुष्यों की जाति से नहीं, आचरणों और गुणों से पूजा होने की भावना का प्रचार होने की आवश्यकता है।

आज जातिवाद की तरह ही सब दलों और पार्टियों में भी विषमता आ रही है। यह विषमता विचारों की है। आज एक दल के व्यक्ति हिंसा के साधनों से देश की समस्याओं को हल करना चाहते हैं और दूसरे दल के शांति तथा अहिंसा में विश्वास रखते हैं। इसमें मध्यम मार्ग उचित है। जब तक सब अहिंसक न बन जाएं, तब तक अहिंसा का पालन होना कठिन है। अहिंसा के लिए हिंसा के प्रयोगात्मक साधन भी हिंसा को ही जन्म देते हैं। इसलिए साधन और साध्य में समानता होना आवश्यक है।

हिंसा के तीन रूप

हिंसा के तीन रूप हैं—आरंभी हिंसा, विरोधी हिंसा और संकल्पी हिंसा। आरंभी हिंसा से मनुष्य बच नहीं सकता। विरोधी हिंसा अपने बचाव के लिए की जाती है। किसी के आक्रमण से बचने के लिए प्रत्याक्रमण करना विरोधी हिंसा है। संकल्पी हिंसा निरपराध प्राणी पर आक्रमण करना है। कम-से-कम इस तीसरी हिंसा से तो बचा ही जा सकता है। बचा ही क्या जा सकता है, बचना आवश्यक भी है। आज की सांप्रदायिकता की समस्या का एकमात्र हल यह है कि जातीय किंवा सांप्रदायिक भावना से किसी की हिंसा न की जाए। हमें जातिवाद और सांप्रदायिकता की विषमता को समाप्त करना है। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि इससे मानवता का बहुत पतन हुआ है।

नारी को हीन समझना भूल है

नारी को भी यदि विकास के साधन मिलें तो वह भी बहुत-कुछ कर सकती है। हमारे धार्मिक संगठन में साधुओं की तरह साध्वियां भी समूचे

देश में पैदल विहार कर धर्म और अहिंसा का प्रचार कर ही हैं। शिक्षा, साहित्य और कला के क्षेत्र में विकास करने के लिए भी वे प्रयत्नशील हैं। उनको हीन समझना उचित नहीं है। यह एक बड़ी भूल है।

आर्थिक विषमता

आर्थिक विषमता का हल कल-कारखानों से अथवा उत्पादन बढ़ाने से नहीं होगा, जितना कि अपरिग्रह की भावना से हो सकता है। आवश्यकता से अधिक संग्रह करना पाप है। आज की इस विषमता को मिटाने के लिए नेताओं, लेखकों, पत्रकारों और वक्ताओं को जगह-जगह पर अपरिग्रहवाद का प्रचार करना चाहिए। पर उससे भी पहले स्वयं अपने जीवन में आर्थिक क्रांति लानी चाहिए। पूंजीवादी मनोवृत्ति मिटाकर संयम और सात्त्विकता को अपनाना चाहिए। इसी में हमारे देश और जनता का कल्याण है।

४. अशांति कैसे मिटेह?

अशांति आज की ही नहीं, हर युग की सबसे बड़ी समस्या है। इस समस्या को सुलझाने का सबसे सरल और सबसे कठिन एकमात्र उपाय आत्म-संयम है। उसके बिना आवश्यकता और साधनों की कमी का संघर्ष कालकवलित नहीं हो सकता। एक जाति, समाज या राष्ट्र की भौतिक उन्नति की प्रतिस्पर्द्धा दूसरी जाति, समाज और राष्ट्र में संक्रांत होती है, आत्म-संयम की नहीं। कारण, भौतिक उन्नति के भवन का निर्माण आसक्ति की ईंटों से होता है। जहां आसक्ति है, राग-द्वेष का प्राबल्य है, और है तव-मम का सीमातीत भेद, वहां उद्वेग है, संघर्ष है, दमन है, युद्ध है, अशांति है। लोभ-संवरण में प्रवृत्तियों का निरोध है, अनासक्ति है, अतएव उसके लिये प्रतिस्पर्द्धा नहीं होती, अशांति और युद्ध नहीं होता। इससे हम बिना तोड़-मोड़ किए इस निष्कर्ष पर पहुंच जाते हैं कि संयम हमारे जीवन की सबसे बड़ी आवश्यकता है, सबसे बड़ी धनराशि है और वह प्रत्येक व्यक्ति की अपनी निजी संपत्ति है। उस पर दूसरा कोई अधिकार नहीं कर सकता। उसमें ही हमारी शांति और सुख के बीज निहित हैं। बाहरी वस्तुएं, भोगोपभोग के साधन हमारी निजी संपत्ति नहीं हैं। उनका संग्रह करने के लिए हम अशांति और युद्ध का बवंडर खड़ा करते हैं और स्वयं ही उसका दुष्परिणाम भोगते हैं। युद्ध तलवारों, बंदूकों, मशीनगनों और अणुबमों में नहीं है। वह मानव के दिल और दिमाग में है। मानव जब चाहते हैं, तब लड़ाई का भूत खड़ा कर लेते हैं। इसीलिए गौतम स्वामी ने कहा थाह

एगे जिए जिया पंच, पंच जिए जिया दस।

दसहा उ जिणित्ताणं, सव्वसत्तु जिणामहं॥

ह्रएक मन को जीतता हूंह्रतब क्रोध, मान, माया और लोभह्रइन चार शत्रुओं पर विजय पा लेते हूं। इन पर विजय पाते ही पांचों इंद्रियों को जीत

लेता हूँ। इस प्रकार सभी शत्रुओं को जीत लेता हूँ।

तात्पर्य यह है कि मन ही सबसे बड़ा शत्रु है। **मन एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयोः।** अथवा **अप्या मित्तममित्तं च, दुष्प्रद्विय सुप्रद्विओ** अर्थात् सुप्रस्थित मन मित्र है और दुष्प्रस्थित मन शत्रु है। अशांति और शांति का उपादान मन ही है। मन को शुद्ध और सरल बनाना आवश्यक है। यदि ऐसा हो जाए तो लाख अणुबमों के होते हुए भी एक विस्फोट नहीं हो सकता। यदि सही अर्थ में सुख और शांति की आकांक्षा है तो व्यक्ति-व्यक्ति आत्म-संयम का अभ्यास करे, लोभ-संवरण करे, आवश्यकताओं को कम करे।

५. भारत का गौरव कैसे सुरक्षित रहेगा?

भौतिक संघर्ष के अखाड़े में भारत भले ही पिछड़ा हुआ हो, किंतु वस्तुस्थिति कुछ और ही है। त्याग के प्यार-दुलार में पली-पुसी भारतीय आत्मा अनेक शरीर-परिवर्तन के बाद भी सजीव है। भारत उसे ताक पर रखकर चला तो यह उसके लिए सबसे बड़ा खतरा होगा। भारतीय जीवन में संतोष, सहिष्णुता, धैर्य और आत्म-विजय की जो सहज धारा बह रही है, वह दूसरों को लाखों प्रयत्न करने पर भी सुलभ नहीं। प्रत्येक भारतीय को अपने पूर्वजों की इस कृति पर गौरव का अनुभव होना चाहिए। यदि उसके स्थान पर भौतिक संघर्ष, सत्ता-लोभ या पदाकांक्षा का पाद-विहार हो रहा है तो मैं उसे भारत का दुर्भाग्य कहूंगा। राजनीति के क्षेत्र में कांग्रेस सर्वाधिक शक्तिशाली और राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करनेवाली संस्था मानी जाती है। उसका इस दृष्टि से और अधिक महत्त्व है कि वह संतमानस महात्मा गांधी के निर्देशन का लाभ उठा सकी। राजनीति के प्रांगण में भी उसने अपनी अहिंसा-सत्यमय या त्याग-तपस्यामय परंपरा का पालन किया, यह उसके लिए स्वर्ण-सुगंध का संयोग है। संक्षेप में इतना ही है कि थोड़े पहले तक उसकी दिशाएं उज्ज्वल रही हैं। किंतु आज स्थिति कैसी है, इस पर विचार करना असामयिक नहीं होगा। क्या अहिंसा और सत्य का प्रेम सिर्फ सत्ता-प्राप्ति के लिए था? क्या त्याग-तपस्या का महत्त्व सिर्फ परतंत्र वेला में था? मैं नहीं समझ पा रहा हूँ कि सहसा स्थिति कैसी बदल गई? आज जहां-कहीं सुनो, लोग कांग्रेस को भला-बुरा कहने में ही आनंदानुभूति करते हैं। लोग कुछ कहें या न कहें, हमें देखना यह है कि उसकी आंतरिक स्थिति कुछ कहने जैसी है या नहीं? यदि है तो क्या यह उसके लिए सद्य है? केवल अहिंसा-सत्य या महात्मा गांधी के नाम की दुहाई से कब तक काम चलेगा? भारतीय दर्शन-शास्त्र में आचरणशून्य सिद्धांत को वाद् मात्र माना है। कथनी और करनी में ऐक्य हो, यह भारत का मूल सूत्र रहा है। अहिंसा और सत्य भारत का गौरव कैसे सुरक्षित रहे?—●●●

कहने और चर्चा से भी कहीं अधिक आचरण के तत्त्व हैं। सुना जाता है कि आज कांग्रेसी व्यक्तियों की भी अहिंसा में निष्ठा नहीं रही। ठीक भी है, निष्ठा आचरण से हो सकती है, दुहाई मात्र से नहीं। पहले अहिंसा में निष्ठा हो, बाद में न रहे, यह तो असंभव-सी बात है। मूल में ही उसमें कुछ कमी हो, यह दूसरी बात है। धार्मिक संप्रदायों की कटु आलोचना करनेवाले राजनीतिज्ञों को चाहिए कि वे अपने जीवन-पृष्ठों को भी पढ़ें। उनकी पद-लिप्सा, सत्ता- लोभ, अर्थ-लालसा और आपसी फूट के कारण समाज, राष्ट्र और परंपरा को क्या-क्या नहीं भुगतना पड़ता, इस पर भी कुछ ध्यान दें। यद्यपि मैं धर्मोपजीवी विकारों का समर्थक नहीं, फिर भी यह नहीं चाहता कि आलोचक अपनी उपेक्षा करें।

मुझे दृढ़ विश्वास है कि धार्मिक और राजनीतिक नेता सब मिल-जुलकर संयम-परंपरा को बढ़ाएं तो भारत का सांस्कृतिक विकास अन्य तत्त्वों की अपेक्षा नहीं रखेगा। भारत का विकास अकिंचन संतों की सत्य-साधना से हुआ है। यहां एक किसान से लेकर पंडित तक के हृदय में निष्कामकर्मी, अनासक्त, अकिंचन, त्यागी भिक्षु के प्रति जो श्रद्धा के भाव रहे हैं, वे वैभव से लदे हुए सम्राट के प्रति नहीं रहे। यहां ऐश्वर्यपूर्ण विलासी नेतृत्व सफल नहीं हो सकता। नेतृगण को भी नाड़ी-ज्ञान में भूल नहीं करनी चाहिए।

६. स्वस्थ समाज का प्रारूप

जहां जीवन हैं, वहां भौतिक पदार्थों की अनिवार्य आवश्यकता है। उनके बिना जीवन का निर्वाह संभव नहीं है। पर उस आवश्यकता की बात को ध्यान से समझने की अपेक्षा है। आवश्यकताओं की एक सीमा होती है, प्रयोजन होता है। जिस आवश्यकता से दूसरे का अधिकार छीना जाता हो या उसमें बाधा पहुंचती हो, वह आवश्यकता वस्तुतः आवश्यकता नहीं रहती, अनधिकार चेष्टा बन जाती है। मेरी बहुत स्पष्ट सोच है कि अहिंसा, सत्य और अपरिग्रह की भित्ति पर जीनेवाले व्यक्ति को अपने नैतिक पतन का कभी कोई संदेह नहीं होता। आज ऐसे अध्यात्मप्रधान समाज के निर्माण की अपेक्षा है, जिसमें अर्थ को अनावश्यक और अतिरिक्त महत्त्व न मिले, सत्ता और सिंहासन को सर्वोच्च प्रतिष्ठा न प्राप्त हो। उस समाज का प्रत्येक सदस्य, फिर भले वह स्त्री हो या पुरुष, युवा हो या प्रौढ़, व्यापारी हो या राज्याधिकारी, शिक्षक हो या विद्यार्थी…… अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को आदर्श मानता हुआ इनको यथाशक्ति व्रतों के रूप में पालने का प्रयत्न करे। उसके जीवन में न तो अमित व्यय हो और न ही अमित संग्रह। वह भोग-साधनों की उत्कृष्ट लालसा न रखे। उसके जीवन की आवश्यकताएं सीमित रहें। अपनी अनिवार्य आवश्यकताओं को भी वह क्रमशः कम करने का लक्ष्य रखे। वह आत्म-नियंत्रण, इंद्रिय-विजय और मनोविजय में ही जीवन की वास्तविक सफलता और विकास का अनुभव करे। वह शक्ति और सद्भावना में विश्वास रखे। अधिकार और पद का लोभ न रखें। उनके प्रति आसक्ति न करे। भौतिक प्रतिस्पर्धा से दूर रहे, कोसों दूर रहे।

७. युगधर्म का स्वरूप

युग और धर्म दो शब्द हैं। इन दोनों में अंतर है। युग संचरणशील है। एक युग आता है और चला जाता है। भिन्न-भिन्न युगों की भिन्न-भिन्न परिस्थितियां रहती हैं। ऐसा कोई युग नहीं रहा, जिसमें धर्म न रहा हो। धर्म का संबंध प्राणीमात्र की आत्मा से है और प्राणी सब युगों में बराबर रहे हैं। युग परिवर्तनशील है, धर्म नहीं। धर्म शाश्वत है, ध्रुव है। हम यह कैसे मानें कि आज का धर्म और है, बीते युग का और था तथा आनेवाले युग का और होगा? धर्म वह है, जो त्रैकालिक है। आज जो धर्म है, वह कल अधर्म बन जाए और आज जो अधर्म है, वह कल धर्म बना जाए, मेरे विचार से वह धर्म नहीं होगा। धर्म धर्म ही था, धर्म ही है और धर्म ही रहेगा। अधर्म अधर्म ही था, अधर्म ही है, अधर्म ही रहेगा। असत्य बोलना त्रिकाल से अधर्म ही है और रहेगा। स्वार्थवश कभी-कभी असत्य आचरण को भी धर्म मान लिया जाता है। चूंकि थोड़ा-सा असत्य बोलने से किसी को पोषण मिलता है, अतः उसको स्वीकार्य मान लिया जाता है। यह सुविधावाद हो सकता है, मगर सुविधावाद को धर्म का जामा न पहनाया जाए, यह अत्यंत आवश्यक है। धर्म की अवहेलना होने का कारण भी यही तो है कि धर्म को जैसा चाहा गया, वैसा बना लिया गया। बड़ी भूल की गई कि धर्म के अनुकूल अपने को नहीं बनाकर, धर्म को अपने अनुकूल बनाने का प्रयास किया गया। आदर्श किसे कहते हैं? जिस पर मैं चल सकूं। बड़ी गलत पद्धति है। आज मनुष्य आदर्शों को अपनी ओर खींचने लगा है। धर्म की अवहेलना जो हुई है, वह अधिकांश धर्म के गुरुओं के द्वारा ही हुई है। धर्म को बतलाया बहुत ऊंचा, मगर उसको आचार में नहीं लाया गया। आप जरा चिंतन करें, पुरुष अपनी वेश-भूषा, खानपान, रहन-सहन आदि में परिवर्तन कर सकता है, मगर इसके बावजूद वह रहेगा पुरुष ही। अस्तु, धर्म के प्रकार, आकार, रूप व परिभाषा में परिवर्तन किया जा सकता है, मगर उसके मौलिक तत्त्वों में नहीं। साधन

के रूप में जो परिवर्तन होता है, वह मौलिक तत्त्व नहीं। तब प्रश्न होता है कि धर्म का युग के साथ संबंध क्यों जुड़ा है? यह इसलिए कि वह संप्रदायों के साथ बांध दिया गया। जैन, बौद्ध एवं वैदिक नामों से धर्म नहीं था। महावीर ने कहा है 'अहिंसा धर्म, सत्य धर्म, ब्रह्मचर्य धर्म, अपरिग्रह धर्म, क्षमा धर्म, मैत्री धर्म आदि शाश्वत हैं।'

फिर युगधर्म किसको कहें? क्या उसे, जो काट-छांट करे, आलोचना करे? आलोचना का स्तर भी यह कि गालियां दी जाएं। आप बताएं, क्या यह अच्छी बात है? मेरे चिंतन से तो वह धर्म नहीं, बल्कि हिंसा है।

युगधर्म तो वह है, जो जन-जन को प्रेरणा देता रहे। साथ ही सबको खुराक देता रहे। विभिन्न धर्मों की विभिन्न व्याख्याएं हैं। अनाचार, दुराचार को कोई अच्छा नहीं मानेगा। *आचार ही पहला धर्म है।* अतः यह तत्त्व युगधर्म है। इस तत्त्व को हर व्यक्ति को स्वीकार करना चाहिए। तभी वह सच्चा धार्मिक बन सकेगा।

अणुव्रत युगधर्म है

आज अणुव्रत युगधर्म है। क्यों? यह इसलिए कि वह किसी संप्रदाय-विशेष से जुड़ा हुआ नहीं है। अगर यह भी जुड़ा हुआ होता तो युगधर्म नहीं होता। आप अगर महाव्रती नहीं बन सकते, व्रती भी नहीं बन सकते तो कम-से-कम अणुव्रती तो बनिए। यदि आप तटस्थ दृष्टि से समीक्षा करें तो पाएंगे कि अणुव्रत के नियमों को स्वीकार किए बिना मानव मानव नहीं रहता। आखिर मानवता का कुछ मापदंड तो होना चाहिए। व्यक्ति अगर ब्रह्मचारी न बन सके तो कम-से-कम व्याभिचारी तो न बने। रक्षक न बने सके तो कम-से-कम भक्षक तो न बने। अणुव्रत जीवन में संशोधन लानेवाला तत्त्व है। वह हर वर्ग, हर जाति को झकझोर देना चाहता है। यह एक निर्विवाद तथ्य है कि अणुव्रत से हुआ तो हित ही है, अहित तो नहीं हुआ। अणुव्रतों से तो अहित ही हुआ, हित क्या हुआ? अणुव्रत हर व्यक्ति को समाधान देता है। कुछ ने समाधान पाया भी है। हमने अपने विचार लोगों को दिए, उनके विचार हमने पाए। हम सुनानेवाले ही नहीं, सुननेवाले भी हैं। कोई अच्छी बात है तो हमें सुनाएं। मैं निःसंकोच सुनूंगा। आज लोगों को एक तत्त्व में समाधान चाहिए। अणुव्रत के इन चारों अक्षरों में सारे समाधान हैं। अलबत्ता अणुव्रत समाधान तभी देगा, जब आप लेना चाहेंगे।

८. युगधर्म और अणुव्रत

प्रवचन का विषय हैह्युगधर्म और अणुव्रत। युग चंचल है, परिवर्तनशील है। वह आता है और चला जाता है। प्रत्येक युग की राजनैतिक और सामाजिक स्थितियां बीते युग या आनेवाले युग की राजनैतिक एवं सामाजिक स्थितियों से भिन्न हो सकती हैं। किंतु धर्म शाश्वत है, अपरिवर्तनशील है। भगवान महावीर ने, बल्कि यह कहना ज्यादा उपयुक्त होगा कि सभी तीर्थकरों ने धर्म को एक ध्रुव, नित्य और शाश्वत तत्त्व के रूप में प्रतिपादित किया है। प्रत्येक युग में उसकी अनिवार्यता रही है। वह त्रैकालिक सत्य है। वैयक्तिक या सामूहिक स्वार्थ-पूर्ति के लिए असत्य को वाच्य मानना धर्म नहीं, सुविधावाद है। जहां भी मनुष्य के स्वार्थ को ठेस पहुंची, वहीं उसने धर्म का आश्रय लिया। अपनी स्वार्थ-पूर्ति के प्रत्येक संसाधन पर उसने धर्म की छाप लगा दी। बंगाल की एक घटना है। एक व्यक्ति ने अपने साथी से कहाह

**जलेर मध्ये गंगा जल, फलेर मध्ये आम।
नारीर मध्ये सीता सती, पुरुषेर मध्ये राम॥**

साथी ने इसका खंडन करते हुए कहाह

**जलेर मध्ये कूपेर जल, फलेर मध्ये जाम।
नारीर मध्ये केचियेर मा, पुरुषेर मध्ये आम॥**

इस प्रकार मनुष्य ने अपनी स्वार्थ-बुद्धि के कारण आदर्श को नीचे खिसकाने का प्रयास किया। भला युद्ध में मरने के लिये कौन जाए ? इसलिए युद्ध को भी धर्म मान लिया गयाह

**जिते च लभ्यते लक्ष्मीमृते चापि सुराङ्गना।
क्षणभंगुरके काये, का चिंता मरणे रणे॥**

तात्पर्य यह है स्वार्थवाद अथवा सुविधावाद ही धर्म की अवहेलना का सबसे बड़ा कारण बना है।

धर्म शाश्वत है, पर रूढ़ नहीं

धर्म को शाश्वत मान लेने से उसके रूढ़ होने का भी खतरा है, रूढ़ होने का अर्थ हैहउसकी रमणीयता का अभाव। कालिदास के शब्दों मेंहक्षेण क्षणे यन्नवतामुपैति, तदेव रूपं रमणीयताया। ह्रमणीय वह है, जो क्षण-क्षण नया बनता जाए।

जन्म से लेकर मृत्यु तक अनेक अवस्थाएं परिवर्तित होने पर भी पुरुष के पुरुषत्व में अंतर नहीं पड़ सकता। युगानुकूल प्रयोग, भाषा एवं निरूपण शैली को हम धर्म का ही एक विशेष पर्याय क्यों न मान लेंह? इससे उसके मौलिक रूप में कोई परिवर्तन नहीं आ सकता। साथ ही शाश्वत होने के उपरांत भी हमें उसमें रमणीयता का अभाव नहीं खटकेगा।

संप्रदाय धर्म नहीं है

प्रश्न होता है, फिर कौन-सा धर्म शाश्वत हैह? जैन, बौद्ध या वैदिक? नहीं, इनमें से कोई भी धर्म शाश्वत नहीं है। वस्तुतः ये धर्म हैं ही नहीं। ये तो धर्म-संप्रदाय हैं। धर्म-संप्रदायों की तुलना मैं प्रायः उस बांध से किया करता हूं, जो पानी को संचित करके उसकी उपयोगिता बढ़ा दे। बावजूद इसके, पानी और बांध दोनों कभी एक नहीं हो सकते। संप्रदायों का कार्य है कि वे धर्म का विनियोग करें, जनता को उसके प्रति सतत जागरूक बनाए रखें। तत्त्वतः संप्रदाय बुरे नहीं, बुरी है सांप्रदायिकता। वह मनुष्य को निष्प्राण बनाती है। अन्य संप्रदायों की व्यर्थ आलोचनाएं करना, उन पर मिथ्या आक्षेप लगाना और जनता में उनके प्रति घृणा के भाव फैलाना सांप्रदायिकता ही तो है। आचार्य धर्मकीर्ति ने कहा हैह

वेदाः प्रामाण्यं कस्यचिद् कर्तृवादः,

स्नाने धर्मेच्छा जातिवादावलेपाः ।

संतापारम्भः पापहानाय चेति,

ध्वस्तप्रज्ञानां पञ्च चिह्नानि जाड्ये ॥

ऐसे विद्वान आचार्यों के द्वारा की गई ऐसी निम्नस्तरीय आलोचनाओं ने ही सचमुच में धर्म को कलंकित किया है। नालंदा पुरातत्व संग्रहालय में हमने एक प्रतिमा देखी। उस पर अंकित थाहत्रैलोक्य विजय। उसमें गौतम बुद्ध के पैरों के नीचे शिवादि देवताओं को कुचले जाते हुए दिखाया गया है। उसे देखकर मैंने सखेद कहाहकाश! साक्षात् विष उगलनेवाली इस मूर्तियों को धरा के गर्भ में ही रहने दिया जाता।' ऐसी

अनेक घटनाओं से इतिहास भरा पड़ा है, जिनके कारण कि धर्म का बहुत बड़ा पतन हुआ।

किंतु वर्तमान युग में उन धर्म-संप्रदायों को जीने का अधिकार नहीं है, जो अपने कर्तव्य की पूर्ति न कर केवल सांप्रदायिकता का विष उगलते हैं। भगवान महावीर ने जैन संप्रदाय को भी कभी शाश्वत नहीं कहा। उन्होंने यही कहा **सव्वे पाणा न हंतव्वा, एस धम्मे धुवे णिइए सासएह** किसी प्राणी को मत मारो ह्यह अहिंसा धर्म ही ध्रुव नित्य और शाश्वत है। अतः किसी धर्म को शाश्वत कहने का तात्पर्य किसी संप्रदाय- विशेष से नहीं, अपितु सत्य और अहिंसा से है।

युगधर्म कौन-सा है?

तब आज का युग धर्म कौन-सा है? इस प्रश्न को समाहित करें, इससे पहले हमें यह सोचना होगा कि युगधर्म कौन-सा हो सकता है? वे सर्वसम्मत विचार, जो सर्वजन-हिताय हों और तत्कालीन युग-समस्याओं का समुचित समाधान देते हों, युगधर्म बन सकते हैं। वह धर्म आस्तिक और नास्तिक सबके लिए एक रूप में मान्य होगा। वह धर्म हैह्यआचार। आचार की अनिवार्यता को कौन इनकार कर सकता है? अणुव्रत-आंदोलन आचार की भित्ति पर ही खड़ा है। वह आज की प्रमुखतम समस्याह्य चरित्रहीनता के लिए सर्वसम्मत समाधान प्रस्तुत करता है। अतः हम उसे युगधर्म की संज्ञा दे सकते हैं।

९. सुख और शांति का मार्ग

आध्यात्मिक संबंध भुलाया नहीं जाता

कलकत्ता (कोलकाता) चतुर्मास की संपन्नता के पश्चात हम चले और आज आपके कानपुर पहुंच गए हैं। साधिक एक वर्ष की अवधि के बाद हमारा पुनः कानपुर में आगमन हुआ है। प्रश्न है, मैं यहां क्यों आया हूँ? यों तो पदयात्रा हमारा जीवन-व्रत है, इसलिए एक गांव से दूसरे गांव और एक नगर से दूसरे नगर में जाने का क्रम चलता ही रहता है। इस क्रम में कानपुर भी आया हूं। बावजूद इसके, यहां आने का एक विशेष उद्देश्य और है। चतुर्मास-काल में यहां अध्यात्म की एक धारा बही है। इसलिए आपका और हमारा पारस्परिक एक आध्यात्मिक संबंध है। आध्यात्मिक संबंध ऐसा संबंध है, जो कभी भुलाया नहीं जाता, बल्कि भुलाया नहीं जा सकता। उसी आध्यात्मिक संबंध को और प्रगाढ़ बनाने के लिए हमारा यहां आगमन हुआ है।

सुख और शांति कैसे मिलेह?

बंधुओह! यह एक त्रैकालिक सचाई है कि संसार का कोई भी प्राणी दुःख नहीं चाहता। सब को शांति अभीष्ट है, सब सुखेच्छु हैं। मैं आपसे पूछना चाहता हूं, क्या आप शांति और सुख नहीं चाहतेह? आपके उत्तर के बिना भी मैं यह अच्छी तरह से जानता हूं कि आपमें से कोई भी इस अभीप्सा से अछूता नहीं है। पर इसके समानान्तर यह भी एक सचाई है कि संसार के अधिकतर प्राणी दुःखी हैं, अशांत हैं। आप पूछेंगे, ऐसा क्योंह? इस *क्यों* का उत्तर बहुत स्पष्ट है। चाह मात्र से किसी को सुख और शांति की प्राप्ति नहीं हो सकती। उसके लिए सही मार्ग को स्वीकार करके उस पर गति करने की अपेक्षा होती है। आप ही बताएं, जो लोग सुख और शांति की चाह के बावजूद गलत रास्ता पकड़ लेते हैं, वे सुख और शांति की अपनी मंजिल को कैसे प्राप्त कर सकते हैं? मैं देखता हूं,

लोग धन-वैभव और भौतिक पदार्थों में सुख और शांति खोजते हैं। पर क्या आज तक किसी ने इनसे सुख और शांति प्राप्त की है? इनमें ही सुख और शांति होती तो बड़े-बड़े धनकुबेर राजा और सम्राट इनका त्याग करके संन्यास का पथ स्वीकार नहीं करते। वस्तुतः सुख और शांति का मार्ग है हत्याग। दूसरे शब्दों में संतोष। जिस-किसी व्यक्ति ने इस पथ पर पदन्यास किया है, उसे सुख और शांति की अभीप्सित मंजिल प्राप्त हुई है। आप भी इस राजपथ पर आएं। निश्चित रूप से आपको सुख और शांति की प्राप्ति होगी।

कानपुर

८ जनवरी १९६०

१०. सुधरे व्यक्ति, समाज व्यक्ति से

कर्तव्यनिष्ठा के हास की दुष्परिणति

जीवन की सफलता का एक बहुत महत्वपूर्ण सूत्र है कर्तव्यनिष्ठा। जो व्यक्ति इस सूत्र के प्रति गंभीर हो जाता है, उसके सफल होने की संभावना भी बहुत बढ़ जाती है। इस सूत्र को अपनाकर कार्य करनेवाले व्यक्ति के सामने निराशा की स्थिति नहीं आती। मैं अपना हर छोटा-बड़ा कार्य इसी कर्तव्यनिष्ठा के साथ करता हूँ। यही तो कारण है कि कोई मेरी बात मानता है तो बहुत अच्छी बात है, पर यदि नहीं मानता है तो भी मेरे मन में किसी भी प्रकार की निराशा नहीं होती। इसी का परिणाम है कि मैं सतत कार्य कर रहा हूँ। हमारे साधु-साध्वियां भी इसी कर्तव्यनिष्ठा के साथ व्यक्ति और समाज के सुधार का निरंतर प्रयत्न कर रहे हैं।

आज के समाज और राष्ट्र पर जब मैं दृष्टिपात करता हूँ तो मुझे ऐसा लगता है कि इस कर्तव्यनिष्ठा की व्यापक स्तर पर कमी आई है। इसकी दुष्परिणति हमारे सामने स्पष्ट है। अनैतिकता, अप्रामाणिकता, भ्रष्टाचार, शोषण जैसी अनेक बुराइयों से समाज और राष्ट्र आक्रांत हो रहा है। अध्यात्मप्रधान संस्कृतिवाले भारत और भारतीय समाज के लिए यह निश्चित ही शोभनीय नहीं है।

व्यक्ति-सुधार : समाज-सुधार

इस स्थिति में परिवर्तन आए, समाज और राष्ट्र इन सब बुराइयों से मुक्त हो, इस दृष्टि से जब-तब, जहां-तहां सुधार की चर्चा सुनाई देती है। सुधार की चर्चा बुरी नहीं कही जा सकती। वह तो अच्छी ही है, भले वह किसी भी स्तर पर क्यों न हो। पर इस संदर्भ में एक बात समझने की है। सुधार की शुरुआत व्यक्ति-सुधार के स्तर पर होनी चाहिए। समाज और राष्ट्र का व्यक्ति-व्यक्ति अपने से यह शुभारंभ करे। तभी समाज-सुधार और राष्ट्र-सुधार की चर्चा करने की सार्थकता सिद्ध हो

सकती है। दूसरे शब्दों में व्यक्ति-सुधार की बात को गौण करके समाज-सुधार और राष्ट्र-सुधार की कल्पना को साकार नहीं किया जा सकता। अणुव्रत-आंदोलन व्यक्ति-सुधार को आधार बनाकर समाज-सुधार और राष्ट्र-सुधार की दिशा में वर्षों से कार्य कर रहा है। आप इस आंदोलन के दर्शन को समझें, इसकी आचार-संहिता को स्वीकार कर समाज-सुधार और राष्ट्र सुधार में अपनी सक्रिय भागीदारी सुनिश्चित करें।

अलीगढ़

२१ जनवरी १९६०

११. अणुव्रत व्रत की चेतना जगाने का आंदोलन है*

इन दो वर्षों में मैंने उत्तर प्रदेश, बिहार और पश्चिम बंगाल की यात्रा की है। यात्रा के दौरान मार्गवर्ती गांवों, कस्बों और नगरों में मैंने अणुव्रत- भावना को फैलाने का प्रयास किया है। भारतीय मानस में व्रत का सहज संस्कार है। इसलिए वह उसके प्रति आकृष्ट होता है। पर आर्थिक प्रलोभन के चलते वह उस तक पहुंचता नहीं। मैं मानता हूँ कि नैतिकता के अनेक पहलुओं में भारतवर्ष संसार के दूसरे-दूसरे राष्ट्रों की तुलना में बहुत आगे है। यहां के जन-संस्कारों में अनाक्रमण, शांति और मैत्री की भावना परिव्याप्त है। इन कुछ-एक वर्षों में यहां जो आर्थिक भ्रष्टाचार बढ़ा है, उसे संधिकाल की देन मानना चाहिए। उसे निर्वीर्य बनाने के लिए सघन और व्यापक प्रयत्न किया जाना अपेक्षित है। अणुव्रत-आंदोलन जन-जन में व्रत की चेतना जगाने का आंदोलन है। पिछले अनेक वर्षों से वह भारतीय समाज में व्याप्त विभिन्न बुराइयों के प्रतिरोध में एक राष्ट्रव्यापी अभियान चलाए हुए है। इस वर्ष आंदोलन ने मिलावट-निषेध, रिश्वत-निषेध और मद्य-निषेध इस त्रिसूत्री कार्यक्रम पर अपना विशेष ध्यान केंद्रित दिया था। इस कार्यक्रम को मैं तीव्र गति से चलाने की अपेक्षा महसूस करता हूँ। मैं चाहता हूँ, इसके लिए पूरे राष्ट्र में एक सशक्त वातावरण निर्मित किया जाए।

मैं कलकत्ता (कोलकाता) से आया हूँ और राजस्थान जा रहा हूँ। लगभग हजार मील (लगभग सोलह सौ कि.मी.) की यात्रा हो चुकी है और लगभग पांच सौ मील (लगभग आठ सौ कि.मी.) अवशिष्ट है। हालांकि पदयात्रा हमारा जीवनव्रत है, तथापि अभी जो मैं राजस्थान जा रहा हूँ, उसके पीछे एक विशेष उद्देश्य है। उदयपुर संभाग में तेरापंथ धर्मसंघ का *द्विशताब्दी समारोह* मनाया जानेवाला है। मैं उसी समारोह में सम्मिलित होने जा रहा हूँ। उस समारोह का शुभारंभ आगामी आषाढी पूर्णिमा (गुरु पूर्णिमा) से होनेवाला है। वह संभवतः छह मास तक चलेगा।

अणुव्रत व्रत की चेतना जगाने का आंदोलन है

उस अवधि में विविध प्रकार के कार्यक्रम आयोजित करने का निर्णय हुआ है। तेरापंथ के प्रणेता आचार्य भिक्षु की रचनाएं पूरे तेरापंथ-समाज की प्रतिनिधि संस्थाहजैन श्वेतांबर तेरापंथी महासभा द्वारा प्रकाशित हो रही हैं। जैन आगम एवं दर्शन संबंधी कई महत्वपूर्ण पुस्तकें प्रकाश में आने की योजना है। कुल मिलाकर उस अवसर तक चालीस-पचास पुस्तकें प्रकाशित होकर लोगों के हाथों में पहुंचने की संभावना है। इससे भारतीय वाङ्मय की समृद्धि बढेगी। हस्तलिखित दुर्लभ ग्रंथों, चित्रों एवं विविध प्रकार की कलात्मक वस्तुओं की एक प्रदर्शनी भी उस अवसर पर संभावित है। तेरापंथ की मौलिक विशेषताओं और परंपराओं की चित्रमय झांकी भी प्रस्तुत करने का चिंतन किया गया है।

इस मुख्य उद्देश्य के साथ जुड़ा एक अन्य उद्देश्य भी है। राजस्थान के चूरू जिले के सरदारशहर कस्बे में हमारे संघ के एक विशिष्ट तपस्वी मुनि अनशन करने जा रहे हैं। कोई सामान्य अनशन नहीं, अपितु अजीवन का अनशनह! उन्होंने अपने जीवन में रोमांचकारी लंबी-लंबी तपस्याएं की हैं। अब वे सुदीर्घ तपस्या (यावत्कथिक अनशन) का प्रत्याख्यान करने जा रहे हैं। इसका संकल्प वे लगभग चौबीस वर्ष पहले ही कर चुके थे। मुनि के लिए तपस्या के उद्देश्य दो नहीं होते। जो उद्देश्य एक दिन के उपवास का होता है, वही उद्देश्य आजीवन उपवास का भी होता है। वह एकमात्र उद्देश्य हैहजवन-शुद्धि। इसी पवित्र उद्देश्य से वे आजवीन का उपवास (अनशन) कर रहे हैं। जहां सारा संसार भौतिक पदार्थों के प्रति तीव्र आसक्ति से बंधा है, वहां शरीर और उसके पोषण के प्रति अनासक्ति का प्रबल भाव सचमुच ही विलक्षण है, दर्शनीय है।

बिड़ला मंदिर

नई दिल्ली

२८ जनवरी १९६०

१२. कथनी-करनी की दूरी को पाटा जाए

प्रेरक व्यक्तित्व का हेतु

जीवन सभी-जीते हैं, पर प्रेरक जीवन उसी व्यक्ति का होता है, जिसके जीवन में कथनी और करनी की एकरूपता होती है। साधु-संतों की बात इसीलिए तो जन-जन के लिए आदेय बनती है कि वे जो कहते हैं, उसके अनुरूप स्वयं चलते हैं। आप देखें, हम लोगों को अणुव्रत के छोटे-छोटे संकल्पों को स्वीकार करने के लिए प्रेरित करते हैं, तो स्वयं महाव्रतों का पालन करते हैं। स्वयं अखंड सत्य की आराधना करते हैं और जन-जन को कहते हैं कि कोई किसी पर झूठा आरोप न लगाए, झूठी गवाही न दे, विश्वासघात न करे, नकली को असली बताकर न बेचे आदि। इसी प्रकार हम पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए लोगों से स्वदार-संतोषी/स्वपति-संतोषी रहते हुए ब्रह्मचर्य की साधना करने का उपदेश देते हैं, परस्त्री एवं वेश्यागमन के परित्याग की प्रेरणा देते हैं।

प्रशस्त-जीवन का आधार

मैं मानता हूँ कि कथनी और करनी की एकरूपता प्रशस्त जीवन जीने का सशक्त आधार है। आज जन-जीवन में जो अनेक प्रकार की विकृतियां घर कर रही हैं, उसका एक बहुत बड़ा कारण यही है कि लोग कथनी-करनी की समानता की बात की अनदेखी कर रहे हैं। हालांकि कथनी-करनी की बिलकुल समानता तो सब लोगों के लिए संभव नहीं है, तथापि दोनों में आकाश-पाताल की-सी दूरी भी नहीं होनी चाहिए। एक सीमा तक तो इस समानता को हर कोई बनाए रख सकता है। पूर्ण समानता को आदर्श मानकर उस दिशा में गति तो प्रत्येक व्यक्ति कर ही सकता है। यह पदन्याय एक दिन उसे पूर्ण समानता के आदर्श तक पहुंचा सकता है।

इस यथार्थ को बहुत गंभीरता से समझने की जरूरत है कि कथनी

और करनी की विसंवादिता स्वयं व्यक्ति के लिए तो अहितकारी है ही, समाज और राष्ट्र को भी उसका दुष्परिणाम भोगना पड़ता है। जिस समाज के सदस्य कथनी-करनी की संवादिता के प्रति गंभीर नहीं होते, उस समाज की प्रतिष्ठा पर आंच आने लगती है। इसी प्रकार जिस राष्ट्र के नागरिक इस संवादिता के प्रति जागरूक नहीं होते, उस राष्ट्र की विश्वसनीयता अंतरराष्ट्रीय क्षेत्र में कम हो जाती है।

अणुव्रत असांप्रदायिक है

अणुव्रत-आंदोलन जन-जन में व्याप्त कथनी-करनी की इस दूरी को कम करने के लिए प्रयत्नशील है। उसके छोटे-छोटे संकल्प इसी बात को लक्ष्य करके बनाए गए हैं कि व्यक्ति एक सीमा तक अपनी कथनी और करनी में सामंजस्य स्थापित कर सके। उनकी दूरी क्रमशः पटती चली जाए। इस आंदोलन की उल्लेखनीय विशेषता यह है कि यह नितांत असांप्रदायिक दृष्टिकोण से कार्य कर रहा है। किसी भी संप्रदाय, वर्ग, जाति से संबद्ध व्यक्ति इसकी आचार-संहिता को स्वीकार कर इसके साथ जुड़ सकता है। उसके इस असांप्रदायिक/सार्वजनीन रूप ने विभिन्न धर्म-संप्रदायों, वर्गों, जातियों के हजारों-हजारों लोगों को अपनी ओर आकृष्ट किया है। उसकी जीवन-निर्माणकारी आचार-संहिता को स्वीकार कर वे कथनी-करनी की समानता की दिशा में गति कर रहे हैं। आप भी इसकी आचार-संहिता को संकल्प के स्तर पर स्वीकार करें। इससे कथनी-करनी की समानता की दिशा में आपकी गति प्रारंभ हो जाएगी, आप प्रशस्त जीवन जीने का आस्वाद ले सकेंगे।

हांसी

३ फरवरी १९६०

१३. सुखमय जीवन का आधार

संसार का प्रत्येक प्राणी सुख और शांति से जीना चाहता है। कोई भी ऐसा व्यक्ति खोजा जाना कठिन ही नहीं, असंभव भी है, जिसे सुख और शांति काम्य न हो, प्रिय न हो। पर इसके बावजूद संसार के बहुत-से प्राणी दुःखी हैं, अशांत हैं। यह एक यथार्थ है, प्रकट सचाई है। प्रश्न है, ऐसा क्यों? इस *क्यों* का उत्तर यह है कि क्रोध, मान, माया और लोभहृये चार तत्त्व उसे दुःखी और अशांत बनाते हैं। जैन-दर्शन में इन्हें *कषाय* कहा गया है। इन चारों के प्रभाव से व्यक्ति का जीवन कसैला बन जाता है। आगम कहते हैं कि व्यक्ति की गलत सोच या मिथ्या दृष्टिकोण तथा असत आचरण के मूल में ये कषाय ही हैं। व्यक्ति के जीवन में वैचारिक एवं आचरणात्मक जितनी भी विकृतियां होती हैं, वे सभी इन्हीं की विभिन्न परिणतियां हैं। इनके योग के बिना व्यक्ति का दृष्टिकोण किंचित भी मिथ्या नहीं हो सकता, वह मन, वचन व काया के स्तर पर कोई भी दुष्प्रवृत्ति नहीं कर सकता। यही तो कारण है कि कषायमुक्तहवीतराग प्राणी की आत्मा एक क्षण के लिए भी किसी प्रकार की दुष्प्रवृत्ति नहीं करती है। तात्त्विक दृष्टि से उसे यह स्थिति ग्यारहवें-बारहवें गुणस्थान में प्राप्त होती है। पर यह जानकर किसी को निराश-हताश होने की जरूरत नहीं है। यह तो सर्वोच्च स्थिति है। इसके नीचे के गुणस्थानों में भी उससे आंशिक छुटकारा तो पाया ही जा सकता है। और जिस-जिस सीमा में व्यक्ति इनसे छूटता चला जाता है, इतनी-उतनी वीतरागता सधती चली जाती है।

इस संदर्भ में एक बात बहुत ध्यान देने की है। व्यक्ति भले ध्यान, मौन आदि की कितनी भी साधना क्यों न कर ले, लंबी-लंबी तपस्या कर ले, पर जब तक अपने कषाय पर विजय प्राप्त नहीं करता, वह परमात्म-पद को प्राप्त नहीं कर सकता। भव-भ्रमण से उसका छुटकारा नहीं हो

सकता। दूसरे शब्दों में ऐसा कहा जा सकता है कि कोई भी आध्यात्मिक साधना की सफलता और सुफलता इन कषायों की मंदता और क्षीणता पर निर्भर करती है। इसलिए साधु और गृहस्थ दोनों के लिए इन कषायों को निर्वीय करना, क्षीण करना आवश्यक है। हां इतना मैं विश्वास दिला सकता हूं कि जितनी मात्रा में व्यक्ति इन कषायों को नष्ट कर देता है, उतनी मात्रा में उसका दुःख समाप्त हो जाता है। दुःख की समाप्ति का तात्पर्य ही हैसुख और शांति की प्राप्ति। उसके लिए फिर अलग से कोई प्रयत्न करने की अपेक्षा नहीं रहेगी।

राजलदेसर

२० फरवरी १९६०

१४. धर्म आकाश की तरह व्यापक है

धर्म जीवन का सर्वोच्च तत्त्व है। सर्वोच्च इसलिए कि जीवन की पवित्रता और आत्मोत्थान मात्र इसी से सधता है। मानसिक शांति और सुख का यह अनन्य हेतु है। इसका क्षेत्र बहुत व्यापक है। इतना व्यापक की दुनिया का कोई भी प्राणी इसकी आराधना कर सकता है। पर दुर्भाग्य से वर्तमान में इसका यह व्यापक रूप खंडित हो रहा है। यह संप्रदाय, वर्ण आदि की संकीर्ण सीमाओं में जकड़ रहा है। हालांकि संप्रदाय में धर्म नहीं होता, ऐसी बात नहीं है, तथापि इतना सुनिश्चित है कि संप्रदाय ही धर्म नहीं है। वस्तुतः धर्म किसी भी संप्रदाय में रहनेवाले अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह, त्याग, संयम, सदाचार आदि तत्त्वों का नाम है। संप्रदाय तो इन तत्त्वों सुरक्षा के लिए होते हैं, इनकी साधना का पथ प्रशस्त करने के लिए होते हैं। दूसरे शब्दों में संप्रदाय धर्म की सम्यक आराधना के लिए उपयुक्त भूमि प्रदान करने के लिए हैं। इस सीमा तक संप्रदायों की उपयोगिता एवं उपादेयता को नकारा नहीं जा सकता। पर कठिनाई वहां होती है, जहां व्यक्ति की दृष्टि सांप्रदायिक हो जाती है। वह अपने संप्रदाय को ही सब-कुछ मानने लगता है, आकाश की तरह व्यापक धर्म को अपने संप्रदाय के संकीर्ण घेरे में सीमित कर देता है। वह इतना भर नहीं सोच पाता कि अहिंसा, सत्य, सदाचार आदि धर्म के व्यापक तत्त्व बड़े-से-बड़े किसी भी संप्रदाय की सीमाओं में कैसे समा सकेंगे? अपेक्षा है, सांप्रदायिक दृष्टिकोण के स्थान पर असांप्रदायिक दृष्टिकोण का विकास हो। तभी धर्म अपनी सही प्रतिष्ठा को प्राप्त कर सकेगा।

धर्मनीति का राजनीति का संबंध

मैं देख रहा हूं कि कुछ लोग धर्मनीति को राजनीति के साथ जोड़ने का प्रयास कर रहे हैं। मेरी दृष्टि में धर्मनीति राजनीति बने, यह कतई उचित नहीं है। इससे धर्मनीति की मौलिकता एवं गुणात्मक को खतरा पैदा

हो जाएगा। अलबत्ता राजनीति पर धर्मनीति का अंकुश रहे, इसमें कोई कठिनाई नहीं, बल्कि यह अत्यंत आवश्यक भी है। अन्यथा राजनीति को उच्छृंखल चलने का खुला मैदान मिल जाएगा, जो कि किसी भी समाज और राष्ट्र के व्यापक हितों की दृष्टि से किंचित भी उचित नहीं है।

स्वस्थ समाज-निर्माण की प्रक्रिया

कुछ लोग धर्मनीति के संदर्भ में अतिकल्पना करते हैं। वे सोचते हैं कि मात्र अहिंसा से समाज की व्यवस्था चल सकती है। इस संदर्भ में मेरा अभिमत यह है कि अहिंसा, सत्य आदि तत्त्व **सर्वजनहिताय, सर्वजनसुखाय** होकर भी समाज के लिए एक सीमा तक ही ग्राह्य हो सकेंगे। जहां समाज है, राष्ट्र है, वहां अहिंसा के साथ हिंसा भी चलेगी, सत्य के साथ असत्य भी चलेगा। जिस प्रकार धूप और छांव दोनों का सह-अस्तित्व है, उसी प्रकार लोक-व्यवस्था में हिंसा और अहिंसा, सत्य और असत्य..... का भी सहअस्तित्व है। ऐसा कोई युग अतीत में कभी नहीं आया, जिसमें हिंसा का सर्वथा अस्तित्व नहीं था। इसी प्रकार भविष्य में भी कोई ऐसा युग नहीं आएगा, जिसमें हिंसा बिलकुल नहीं रहेगी। मैं इस प्रकार की कल्पना को अव्यावहारिक मानता हूं। इसका कोई औचित्य नहीं है। वस्तुतः धर्म या अहिंसा का काम हृदय-परिवर्तन का है। इस काम को वह बहुत अच्छे ढंग से संपादित कर सकती है। पर मात्र हृदय-परिवर्तन से समाज का आमूलचूल परिवर्तन संभव नहीं है। इसके लिए हृदय-परिवर्तन के साथ-साथ व्यवस्था-परिवर्तन भी अपेक्षित है। जहां इन दोनों का योग होता है, वहां परिवर्तन का सही मार्ग प्रशस्त होता है। स्वस्थ समाज के निर्माण की यही प्रक्रिया है।

स्वस्थ समाज के निर्माण के संदर्भ में एक बात और समझ लेने की है। जैसा कि मैंने कहा, धर्म हृदय-परिवर्तन का साधन है, और हृदय-परिवर्तन जीवन-सुधार का मूलभूत आधार है। इसके अभाव में जीवन-सुधार की कल्पना ही नहीं की जा सकती। मैं देख रहा हूं, इन दिनों सुधार का स्वर चारों ओर बुलंदी पर है। सुधार की बात को, भले वह किसी भी स्तर पर क्यों न हो, अनुचित नहीं कहा जा सकता। वह तो प्रशस्य ही है। पर सुधार का प्रारंभ कहां से हो? मेरी दृष्टि में उसका शुभारंभ व्यक्ति को स्वयं से करना चाहिए। जो लोग स्वयं सुधरे बिना समाज-सुधार की लंबी-चौड़ी बातें करते हैं, उनकी मैं बहुत सार्थकता नहीं

देखता। यदि वास्तव में ही वे लोग सुधार के बारे में गंभीर हैं तो उन्हें सबसे पहले स्वयं को सुधार की प्रक्रिया से गुजारना चाहिए। ध्यान रहे, स्वयं सुधार के रास्ते पर चलकर ही व्यक्ति दूसरों को उस पथ आने का आह्वान करने का सच्चा अधिकारी बन सकता है। और ऐसी स्थिति में ही उसका आह्वान उत्पथगामी लोगों के लिए सत्पथ पर आने की प्रेरणा बन सकता है।

संतों का सच्चा स्वागत

गोगुंदा आगमन के अवसर पर आपने संतों का स्वागत किया, इसे मैं भारतीय संस्कृति और अध्यात्म-संस्कृति के अनुरूप मानता हूँ। पर इस संदर्भ में एक बात अवश्य कहना चाहता हूँ। यह स्वागत मात्र औपचारिक नहीं होना चाहिए। हालांकि उपचार भी कोई एकांततः अनुपयोगी तत्त्व नहीं है। उसका भी व्यवहार में अपना एक मूल्य है। इसके माध्यम से लोगों के हृदय की भावना, श्रद्धा अभिव्यक्त होती है। पर इसके बावजूद इतना सुनिश्चित है कि मात्र भाषण आदि के उपचार से संतों का सच्चा स्वागत नहीं हो सकता। उसके लिए तो संतों द्वारा बतलाए जानेवाले त्याग और संयम के तत्त्वों को जीवनगत बनाना आवश्यक है, मानवता की राह पर आना आवश्यक है। मैं नहीं समझता मानवता के बिना कोई कैसा मानवहू? वह कहने भर का मानव भले तो हो, गुणात्मक दृष्टि से मानव नहीं हो सकता। मुझे ऐसा लगता है कि आज के युग में सर्वाधिक हास मानवता का हुआ है, मानवीय मूल्यों को हुआ है। इस कारण ही मानव-समाज में अनेक तरह की विकृतियां प्रवेश पा रही हैं। यदि स्वस्थ समाज का निर्माण करना है तो जन-जन में मानवीय मूल्यों के प्रति निष्ठा जगाकर उसे मानवता की राह पर लाना होगा। अणुव्रत-आंदोलन की चर्चा अभी आपने सुनी। वह व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और विश्व सभी स्तरों पर मानवीय मूल्यों की पुनः प्रतिष्ठा का अभियान है। इसके छोटे-छोटे संकल्पों को स्वीकारकर के कोई भी व्यक्ति मानवीय गुणों से संपन्न बन सकता है। सच्चा मानव बन सकता है। इसमें व्यापारी, राजकर्मचारी आदि समाज के विभिन्न वर्गों के लिए अलग-अलग नियम हैं। एक व्यापारी से यह कहता है यदि तुम्हें अच्छा व्यापारी बनना है तो मिलावट करना छोड़ो, तोल-माप में कमी-बेशी करना बंद करो, ग्राहक को धोखा न देने का संकल्प करो। इसी प्रकार राजकर्मचारी से कहता है कि रिश्वत लेना छोड़ो, जनता और सरकार को धोखा मत दो। गांधीजी की कल्पना धर्म आकाश की तरह व्यापक है

का रामराज्य इन नियमों को व्यापक रूप में स्वीकार करने से ही संभव है। इस आंदोलन की बड़ी विशेषता यह है कि इसमें जाति, वर्ण, वर्ग, संप्रदाय जैसी किसी संकीर्णता को स्वीकार नहीं किया गया है। मानवीय मूल्यों में निष्ठा रखनेवाला कोई भी व्यक्ति, भले वह किसी भी जाति वर्ण, वर्ग संप्रदाय.....से संबद्ध क्यों न हो, इसकी आचार-संहिता को स्वीकार कर सकता है। दूसरे शब्दों में वह जैन-धर्म है, मानव धर्म है। धर्म के सार्वभौम और सार्वजनीन व्यापक स्वरूप की चर्चा मैंने प्रारंभ में की थी। यह आंदोलन उसी स्वरूप को उजागर करने का प्रयत्न है। आप से यही अपेक्षा है कि आप इस आंदोलन के दर्शन को समझें और इसकी मानवीय आचार-संहिता को स्वीकार करें। यही संतों का सच्चा स्वागत होगा।

गोगुंदा

१२ मई १९६०

१५. अणुव्रत का संदेश

अणुव्रत असांप्रदायिक है

अणुव्रत-आंदोलन की प्रासंगिक चर्चा अभी आपने सुनी। यह एक संप्रदायनिरपेक्ष आंदोलन है। किसी भी संप्रदाय से संबद्ध व्यक्ति इस आंदोलन के साथ जुड़ सकता है, जीवन-निर्माणकारी इसकी आचार-संहिता को स्वीकार कर सकता है। यानी किसी भी संप्रदायविशेष की उपासना-पद्धति में आस्था रखता हुआ व्यक्ति अणुव्रती बन सकता है। एक जैन अणुव्रती बन सकता है तो एक अजैन भी अणुव्रती बन सकता है। एक हिंदू अणुव्रती बन सकता है तो एक मुसलमान भी अणुव्रती बन सकता है। इसी प्रकार ईसाई अणुव्रती बन सकता है, एक बौद्ध भी अणुव्रती बन सकता है। मूलतः विभिन्न संप्रदायों की उपासना-पद्धति में एकरूपता नहीं है, अनेक भेद-प्रभेद हैं। इसलिए किसी भी एक संप्रदाय- विशेष की उपासना को सर्वसम्मत बनाना असंभव है। पर जहां आचार का प्रश्न है, वहां सभी धर्म-संप्रदाय एकमत हैं। उसमें कोई विवाद जैसी बात नहीं है। आप ही बताएं अहिंसा, सत्य, अचौर्य, मैत्री, करुणा आदि तत्त्वों को कौन-सा धर्म-संप्रदाय मान्य नहीं करताह? सभी करते हैं। और जो इन्हें मान्य नहीं करता, वह धर्म-संप्रदाय हो ही नहीं सकता। मैं नहीं समझता, इन सबको अस्वीकार करने के बाद धर्म कहां बच पाता हैह?

इस बात को ध्यान में रखते हुए अणुव्रत ने उपासना के पक्ष को गौण करके आचार-पक्ष को प्रमुखता दी। कहना चाहिए, एक अपेक्षा से उसने सर्वधर्म-समन्वय को साकार कर दिया। आज आप देख रहे हैं कि विभिन्न संप्रदायों के लोग समान रूप से अणुव्रती हैं।

संप्रदाय की तरह ही अणुव्रत जाति, वर्ण, वर्ग आदि से भी निरपेक्ष है। किसी भी जाति, वर्ण, वर्ग.....के व्यक्ति के लिए अणुव्रत का द्वार खुला है। बस, शर्त एक है कि जीवन की पवित्रता, सदाचार, मानवता

और नैतिकता में उसका विश्वास हो।

स्वहित में अंतर्निहित है परहित

अणुव्रत व्यक्ति-व्यक्ति से स्वहित का कार्य करने की बात कहता है। आप कहेंगे, यह तो नितांत स्वार्थी मनोवृत्ति को जाग्रत करने और प्रोत्साहन देनेवाली बात हुई। स्थूल दृष्टि से यह बात ठीक जान पड़ती है, पर जब हम थोड़ी गहराई से ध्यान देते हैं तो यह बात बहुत स्पष्ट रूप में दिखाई देती है कि स्वहित की प्रवृत्ति में वस्तुतः परहित अंतर्निहित है। आप देखें, स्वहित का तात्पर्य है आत्मा का हित। अब आप ही बताएं, कोई भी आत्महितगवेषी व्यक्ति हिंसा, चोरी, असत्य, दंभ, धोखा जैसी कोई भी प्रवृत्ति कैसे कर सकेगा? यदि वह छलना से ऐसी कोई भी प्रवृत्ति करता है तो वास्तव में वह आत्महितगवेषी या आत्मार्थी नहीं है, क्योंकि ऐसा करना तो आत्महित में एकांततः बाधक है। इसलिए सच्चा आत्मार्थी व्यक्ति ऐसा करना तो दूर, ऐसा करने की कोई बात सोच भी नहीं सकता। यदि कदाच किसी मजबूरी में उसे कोई ऐसी प्रवृत्ति करनी भी पड़ती है तो उसके लिए उसके मन में गहरा अनुताप का भाव होगा, उसे करके वह किंचित भी प्रसन्न नहीं होगा, उसे सही सिद्ध करने का जरा भी प्रयत्न नहीं करेगा।

अब आप देखें, जब कोई आत्महितगवेषी व्यक्ति किसी का अहित नहीं करेगा, तब परहित तो अपने-आप सध जाएगा। उसको अलग से करने की बात ही कहां रहती है? मैं आपसे ही पूछता हूं, यदि एक न्यायाधीश न्यायाधीश की कुर्सी पर बैठकर अन्याय नहीं करता है तो क्या अनायास ही सबको न्याय प्राप्त नहीं होगा? वह तो प्राप्त होगा ही। इसी प्रकार अध्यापक, विद्यार्थी, व्यापारी, राजकर्मचारी आदि विभिन्न वर्गों के लोग यदि अपने हित में अप्रामाणिकता, अनैतिकता, भ्रष्टाचार से बचते रहें तो समाज का व्यापक हित स्वयं सध जाएगा। इस बात का दूसरा महत्त्वपूर्ण पहलू यह है कि जब समाज के विभिन्न वर्गों के लोग स्व-हित में प्रामाणिकता, नैतिकता, सदाचार का जीवन जीने के लिए संकल्पित हो जाएंगे तो समाज-सुधार और राष्ट्र-सुधार स्वयं फलित हो जाएगा। इस अपेक्षा से अणुव्रत की स्वहित में कार्य करने की बात छोटी-सी लगने पर भी परिणाम की दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

वर्ग-संघर्ष क्योंह?

मैं देख रहा हूँ, आज समाज में वर्ग-संघर्ष व्यापक रूप में पनप रहा है। एक वर्ग के मन दूसरे वर्ग के प्रति घृणा और आक्रोश के भाव पैदा हो रहे हैं। इसका मूलभूत कारण यही तो है कि समाज में स्वहित में प्रवृत्ति की भावना का अभाव है। इसके चलते जब एक वर्ग के लोग दूसरे वर्ग के लोगों का शोषण करते हैं, उनके अधिकारों का हनन करते हैं, तब दूसरे वर्ग के लोगों में प्रतिक्रिया-स्वरूप उस वर्ग के प्रति घृणा और आक्रोश के भाव पैदा होते हैं। अभी-अभी मैंने झालवाड़ क्षेत्र की यात्रा की। उस यात्रा के दौरान एक दिन मेरा प्रवास मकाड़देव में हुआ। संतों का आगमन सुनकर वहां आदिवासी भाई-बहिनों की टोलियां-की-टोलियां आईं। मैंने उन्हें सामूहिक रूप में संबोधित किया। उन्हें धूम्रपान, मद्यपान, मांस-भक्षण आदि बुराइयों के दुष्परिणामों से परिचित करवाते हुए उनसे मुक्त होने की प्रेरणा दी। प्रेरणा करने की देर थी। एक-एक करके व्यक्ति खड़े होते गए और समझबूझपूर्वक प्रतिज्ञाएं करते गए। इस प्रकार उनमें से अनेक व्यक्तियों ने विभिन्न दुष्प्रवृत्तियों से मुक्ति प्राप्त की। इस क्रम में उनमें से एक आदिवासी भाई खड़ा हुआ और बोलाह 'आप एक-एक व्यक्ति को क्या प्रतिज्ञा कराते हैंह? मैं आपके समक्ष दृढ़ प्रतिज्ञा करता हूँ कि मेरी पूरी जाति को आप द्वारा बताई गई बुराइयों से मुक्त बनाऊंगा।' फिर उसने अपने अंतर की पीड़ा प्रकट करते हुए कहा 'महाजनों के कारण हम अत्यंत दुःखी हैं। ये महाजन हमें ब्याज पर रुपया देते हैं और फिर उनसे डेढ़ा-दुगुना लेते हैं। यदि वर्षा के अभाव में किसी समय फसल नहीं होती तो ये लोग हमारी भैंसें, घर आदि जीवनयापन की आवश्यक वस्तुएं नीलाम करवा देते हैं। बाबा! मैं सच कहता हूँ कि हमारी नीयत शुद्ध है। पर फसल न होने की स्थिति में आखिर हम इनको देने के लिए रुपए लाएं कहां सेह? इस प्रकार मूल रकम से कई गुनी ज्यादा रकम चुकाकर भी हम कर्जदार-के-कर्जदार बने रहते हैं। यह शोषण का क्रम जीवन-भर भी बंद नहीं होता। अब आप पधार गए हैं तो इस शोषण के चक्र को रोककर हमारे दुःख को दूर करें।'

बंधुओ ! आप जरा बताएं, जब एक वर्ग का दूसरे वर्ग के साथ इस प्रकार का अमानवीय और क्रूरतापूर्ण व्यवहार होगा तो दूसरे वर्ग में उसके प्रति घृणा और आक्रोश के भाव कैसे नहीं पैदा होंगेह? और ये घृणा और

आक्रोश के भाव ही आगे जाकर वर्ग-संघर्ष जैसी स्थिति पैदा करते हैं। इसलिए यदि समाज को वर्ग-संघर्ष जैसी विकट स्थितियों से बचना है तो जन-जन को अणुव्रत के स्वहित में कार्य करने के सूत्र को अपनाना होगा।

जीवन प्राकृतिक सौंदर्य से संपन्न बने

झालवाड़ क्षेत्र की यात्रा की बात अभी मैंने आप से कही। पूर्वाचार्यों ने इस क्षेत्र की यात्रा करने का सर्वप्रथम अवसर मुझे ही प्रदान किया है। प्राकृतिक सौंदर्य की दृष्टि से यह क्षेत्र बहुत समृद्ध है, बल्कि कहना चाहिए कि मन को खींचनेवाला है। इस की यात्रा के दौरान मेरे मन में सहज रूप से यह विचार आता रहा कि जिस प्रकार प्राकृतिक दृश्यों का सहज सौंदर्य मन को आकर्षित करनेवाला होता है, उसी प्रकार यदि व्यक्ति का जीवन भी प्राकृतिक रूप से सुंदर हो तो वह जन-जन को सहज रूप से आकर्षित करनेवाला हो सकता है। जीवन के प्राकृतिक रूप से सुंदर होने से मेरा तात्पर्य आप समझते ही होंगे। सहज, सरल और शीलसंपन्न जीवन प्राकृतिक रूप से सुंदर जीवन होता है। उसमें चरित्रनिष्ठा और आचारनिष्ठा की महक होती है। अणुव्रत-आंदोलन जीवन को इस प्राकृतिक सौंदर्य से संपन्न बनाने का कार्य करता है। आप इस आंदोलन की आचार-संहिता को संकल्प के स्तर पर स्वीकार करें। मैं विश्वास के साथ कह सकता हूँ कि आपका जीवन सहज, सरल और शीलसंपन्न बन जाएगा। आप अनायास रूप में जन-जन के लिए आकर्षण के केंद्र बन जाएंगे।

गोगुंदा

२५ मई १९६०

१६. बंदीपन सबसे बड़ा दुःख है

इस संसार में सबसे बड़ा दुःख विवशता है, बंदीपन है। बंदी कौन होता है? बंदी वह होता है, जो स्वतंत्रतापूर्वक अपनी शक्ति का प्रयोग न कर सके। एक आदमी अंधा है। आंखें होने पर भी वह देख नहीं सकता। क्या वह प्राकृतिक कारावास का बंदी नहीं है? एक व्यक्ति को स्वादिष्ट-से-स्वादिष्ट पकवान उपलब्ध हैं। पर अग्निमांद्य के कारण वह खा नहीं सकता। इसी प्रकार बहरा होना, गूंगा होना आदि स्थितियां क्या हैं? विवशताएं ही तो हैं। जहां विवशता है, वहां कैद है।

गहराई से देखा जाए तो संसार का हर प्राणी कर्मों से बंदी है। प्राणी पाप करता है और पाप उसे बंदी बनाते हैं। यह कैसी विचित्र बात है कि प्राणी पाप करते नहीं सकुचाता, लेकिन बंदी बनना नहीं चाहता, पाप का फल भोगना नहीं चाहता! भले वह नहीं चाहता, पर फल तो उसे भोगना ही पड़ता है।

प्रसंग जैन-रामायण का

जैन-रामायण का एक प्रसंग है। सीतेंद्र लक्ष्मण को कष्ट-मुक्त करने के लिए नरक गया। वहां उसने देखा कि लक्ष्मण और रावण परस्पर लड़ रहे हैं। उसने लक्ष्मण को हाथ पकड़कर उठाया। पर यह क्या? हाथ पकड़कर ऊपर खींचा तो हाथ, हाथ में ही रह गया तथा शेष शरीर पारद की तरह बिखर गया। उसने अपने ढंग से बहुत प्रयत्न किया पर अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो सका। अंततः उसे विमान में बिठाकर चलने लगा तो लक्ष्मण के नारकी जीव को असह्य वेदना की अनुभूति हुई। उसने सीतेंद्र से कहा 'आप कृपाकर मुझे यहीं छोड़ दीजिए।' उसके निवेदन पर सीतेंद्र ने उसे वहीं छोड़ दिया। यहां समझने की बात यह है कि अतीव सामर्थ्य के उपरांत भी सीतेंद्र लक्ष्मण के नारकी जीव को उसके दुःख से मुक्ति नहीं दिला सका। इससे यह बहुत स्पष्ट है कि अपने संचित कर्मों

का फल प्राणी को भोगना ही पड़ता है। वह फल भुगतना पड़ता है, तब वह दुःखी होता है। यदि वह उस समय इस भाषा में सोच ले कि मैं तो मात्र अपना ऋण चुका रहा हूँ तो बहुत संभव है कि वह दुःखी न हो। आप इस बात को समझें कि व्यक्ति दूसरों को धोखा दे सकता है, पर अपने-आपको नहीं। अपने से छुपा उसका कोई पाप नहीं होता। उसके अपराध या दुष्प्रवृत्ति से दूसरे-दूसरे लोग अपरिचित हो सकते हैं, पर वह उससे अनभिज्ञ कैसे हो सकता है? इसलिए जीवन-शुद्धि के लिए तीन बातों की नितांत अपेक्षा है। पहली बात है अपने कृत अपराधों, पापों का स्मरण। यदि व्यक्ति अपने अपराधों की स्मृति ही नहीं करेगा तो जीवन-परिष्कार की प्रक्रिया प्रारंभ ही कैसे होगी? दूसरी बात है अपने अपराधों, पापों को ऋजुतापूर्वक खुले-आम स्वीकार करना। मैं मानता हूँ, अपने अपराधों को खुले-आम स्वीकार करना बहुत साहस का काम है, बड़ी वीरता का काम है। कोई वीर पुरुष ही ऐसा साहस जुटा सकता है, कायर-कमजोर नहीं। गहराई से देखा जाए तो अपराधों का ऋजुतापूर्वक स्वीकरण एक प्रकार का प्रायश्चित्त ही है। इससे जीवन पवित्र तो बनता-ही-बनता है, उसमें नया निखार भी आता है।

तीसरी बात है अतीत में किए अपराधों को भविष्य में न करने का मानसिक संकल्प। यदि भविष्य में अपराध, पाप न करने का संकल्प नहीं किया जाता तो पूर्वकृत अपराधों के स्वीकरण और उनके प्रायश्चित्त की पूरी सार्थकता प्रकट नहीं होती। इसलिए भविष्य में अपराध-पाप की पुनरावृत्ति न करने का दृढ़ संकल्प भी साथ-साथ होना चाहिए। हां, संकल्प के संदर्भ में एक बात अवश्य ध्यान देने की है। संकल्प अंतर भावना से होना चाहिए, मात्र दिखावे के लिए नहीं। दिखावा तो धोखा है और धोखा देना अपने-आपमें एक बहुत बड़ा पाप है। इसलिए संकल्प जीवन-शुद्धि की प्रेरणा और उद्देश्य से ही होना चाहिए।

मैं मानता हूँ, ये तीनों बातें त्रिवेणी-स्नान के तुल्य हैं। यदि व्यक्ति इन तीनों बातों को हृदय से स्वीकार कर लेता है तो उसकी जीवन-शुद्धि में संदेह की कहीं कोई गुंजाइश नहीं रहती।

प्रश्न किया जा सकता है कि व्यक्ति अपराध क्यों करता है? पाप में प्रवृत्त क्यों होता है? सांसारिक प्राणी अपने बाल-बच्चों के लिए, परिवार के लिए, ठाट-बाट के लिए पाप करता है, अपराध करता है।

इससे भी आगे देवी-देवताओं के लिए भी पाप किया जाता है। बड़े आश्चर्य की बात तो यह है कि धर्म और भगवान के लिए भी पाप किया जाता है। पर इस संदर्भ में सिद्धांत रूप में एक बात बहुत ही स्पष्ट है कि पाप भले व्यक्ति किसी के लिए क्यों न करे, किसी बहाने क्यों न करे, उसका कटु फल तो उसे स्वयं को ही भोगना होता है। दूसरा कोई भी उसमें उसका हिस्सा नहीं बंटा सकता।

प्रसंग वाल्मीकि का

वाल्मीकि ऋषि की घटना बहुत प्रसिद्ध है। पहले वे एक डाकू थे। ऐसा डाकू, जो चलते राही को लूट लेता था। हत्या करना तो मानो उसके लिए बाएं हाथ का खेल था। न जाने कितने निरपराध प्राणियों के प्राण उसने लूटे थे। एक दिन संयोग से एक संत मिल गए। जघन्यता की तब हद हो गई, जब उसने उनको भी नहीं छोड़ा। उन्हें भी पकड़ लिया और उनका सामान छीनने लगा। संत ने धैर्य व समता रखी और उससे पूछा 'क्या तुम मेरे प्रश्नों के उत्तर दोगे?' डाकू बोला 'क्यों नहीं, अवश्य दूंगा।' संत ने पूछा 'तुम डाका क्यों डालते हो?' यह भंयकर पाप किसके लिए करते हो?' डाकू बोला 'बाल-बच्चों के लिए, परिवारवालों के लिए।' संत ने पूछा 'जिनके लिए तुम इतना पाप करते हो, क्या वे भी तुम्हारे पापों के फल का हिस्सा लेंगे?' डाकू बोला 'क्यों नहीं लेंगे, अवश्य लेंगे। यह तो बिलकुल न्यायोचित बात है।' संत बोले 'यह तो तुम कह रहे हो। क्या इस संबंध में तुमने उनसे भी कभी पूछा है?' डाकू बोला 'उनसे पूछा तो कभी नहीं, पर इसमें पूछने की क्या बात है? पाप के फल में हिस्सेदार तो उन्हें बनना ही होगा।' संत बोले 'नहीं, ऐसे नहीं। तुम आज उनसे पूछकर आओ।' डाकू बोला 'तुम मुझे चकमा देकर भागना चाहते हो। पर मैं तुम्हारी इन बातों में आकर तुम्हें यों ही छोड़नेवाला नहीं हूँ।' संत बोले 'धन के नाम पर मेरे पास कुछ है ही नहीं। फिर चकमा देकर भागने की कोई अपेक्षा ही कहां है? इसके बावजूद मैं विश्वास दिलाता हूँ कि मैं कहीं नहीं जाऊंगा। तुम घर जाकर परिवारवालों से पूछकर आओ।'

डाकू संत को वहीं छोड़कर अपने घर आया। पारिवारिक सदस्यों को इकट्ठा करके उसने पूछा 'मैं तुम लोगों के भरण-पोषण के लिए लूट-खसौट, हत्या जैसे पाप करता हूँ। उनका फल भोगने में तुम सब

हिस्सेदार बनोगे या नहींह? प्रश्न के साथ ही सभी पारिवारिक सदस्यों ने एक स्वर में कहाहहम हिस्सेदार क्यों बनेंगेह? पाप तुम करते हो तो उनका फल भी तुम्हीं भोगोगे। हमारा उनसे कोई संबंध नहीं है। हमने कब कहा था कि तुम लूट-खसौट, हत्या जैसे जघन्य काम करोह? सुनकर डाकू अवाक रह गया। उसका भ्रम टूट गया। उन्हीं पैरों वह लौटा और संत के पास आकर बोलाहआपका कथन बिलकुल सच है। कोई भी पारिवारिक सदस्य पाप का फल भोगने में हिस्सेदार बनने को तैयार नहीं है। आपने मेरी आंखें खोल दीं।

अवसर देखकर संत ने उपदेश दियाहयह जगत स्वार्थमय है। धन के सभी हिस्सेदार हैं, लेकिन पाप के फल का हिस्सेदार बनना कोई नहीं चाहता। इसलिए अतीत के पापों का प्रायश्चित्त करते हुए तुम अब भी संभलो। भविष्य में हत्या करना, डाका डालना, लूट-खसौट करना जैसे जघन्य कर्म न करने का संकल्प करो। जीवन को सही दिशा में मोड़ो। निश्चय ही तुम्हें अनिवर्चनीय आत्म-तोष की अनुभूति होगी।

अवसर की प्रेरणा ने डाकू की संपूर्ण जीवन-दिशा को बदल दिया। अब वह ऋषि बन गया। ऋषि ने अपने जीवन को तपस्या और साधना में झोंक दिया। आगे चलकर ये ही ऋषि आदि कवि वाल्मीकि के रूप में विश्रुत हुए। बंधुओह! पर यह केवल वाल्मीकि की बात नहीं है। जो भी व्यक्ति अपने जीवन को सही दिशा में मोड़ देता है, उसका जीवन वरदान बन जाता है। जीवन को वरदान बनाने की अभीप्सा किसकी नहीं होतीह?

१७. जनता का तंत्र कैसा होल्ल?

परिवर्तन गति का क्रम है। इस विश्व में अपरिवर्तनीय कुछ भी नहीं है। जो एक समय में होता है, वह दूसरे समय में नहीं होता और जो एक समय में नहीं होता, वह दूसरे समय में हो जाता है। जो होता है, उसका भी क्रम है और जो मिटता है, उसका भी क्रम है। एक समय भारतीय जनता धार्मिक भावना से ओतप्रोत थी। हालांकि धर्म का आचरण सर्वोपरि था, यह तो नहीं कहा सकता, तथापि यह कहा जा सकता है कि धर्म की आस्था सर्वोपरि थी। किंतु आज वह टूटती जा रही है।

मध्यकाल में राष्ट्रीय भावना का विकास नहीं हुआ था। आज उसे विकसित करने का प्रयत्न किया जा रहा है, किंतु अभी तक वह सफल नहीं हुआ है। यह संधिकाल है। प्राचीन भावना शिथिल हो रही है और नवीन भावना तीव्र नहीं हो रही है। इस समय बहुत ही जागरूक रहने की आवश्यकता है। कोई भी सभ्य राष्ट्र जनता में राष्ट्रीयता की भावना के जगाने को गौण नहीं मान सकता, तो धार्मिक भावना को तोड़कर कोई भी राष्ट्र अपने नागरिकों को शांतिप्रिय और अनाक्रामक नहीं रख सकता। भारत एक संप्रभुतासंपन्न स्वतंत्र राष्ट्र है। वह गणतंत्र राज्यों में अग्रणी है। वह अपने विकास में संलग्न है और दूसरे के विकास में बाधा डालने व उनकी स्वतंत्र सत्ता में हस्तक्षेप करने की नीति से दूर है। यह चरित्र का उत्तम विकास है। अधिकार के लोभ का संवरण है। यह भारत की दीर्घकालीन साधना का परिणाम है। इसी प्रकार एक और साधना के सूत्रपात की आवश्यकता है। आर्थिक क्षेत्र में जो आचारहीनता है, उसके प्रति जन-जन के मन में घृणा उत्पन्न करने की आवश्यकता है। आज उसका परिणाम दृश्य न भी बने, पर वह भावी पीढ़ी के रक्त में संक्रांत हो सकता है। अपेक्षा यह है कि वर्तमान पीढ़ी के लोग आर्थिक क्षेत्र का अनाचार मिटाएं और शुद्ध संस्कार का बीजारोपण करें। जनता के तंत्र का यही प्रशस्त पथ है।

१८. शांति और सुख का मार्ग

धर्म आत्म-शुद्धि का एकमात्र साधन है। जीवन की पवित्रता मात्र इसी से सध सकती है। सुख और शांति का यह निर्विकल्प उपाय है। आप पूछेंगे, धर्म का स्वरूप क्या है? धर्म का स्वरूप अहिंसा, संयम और तपमय है। संक्षेप में इन तीन तत्त्वों में धर्म की सारी बातें समाविष्ट हो जाती हैं। मैं इस तथ्य से सुपरिचित हूँ कि घर-गृहस्थी में रहनेवाले व्यक्ति के लिए पूर्ण अहिंसा का पालन करना असंभव है। वह चाहकर भी पूर्ण अहिंसक नहीं बन सकता। इसी प्रकार पूर्ण संयम की बात भी उसके लिए व्यवहार्य नहीं है। इस वास्तविकता को ध्यान में रखते हुए ही मैं लोगों के समक्ष अणुव्रत की चर्चा करता हूँ। अणुव्रत के छोटे-छोटे संकल्प इस प्रकार के हैं कि अपनी पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रीय जिम्मेदारियों को निभाता हुआ भी व्यक्ति उनका अच्छे ढंग से पालन कर सकता है। अणुव्रत कहता है कि व्यक्ति किसी भी निरपराध प्राणी की संकल्पपूर्वक घात न करे। व्यापार-व्यवसाय में प्रामाणिक रहे। बेमेल मिलावट न करे। माप-तोल में कमी-बेशी न करे। नकली को असली बताकर न बेचे। कालाबाजारी न करे। परस्त्रीगमन और वेश्यागमन न करे। सामाजिक कुरूपियों को प्रश्रय न दे। अपने खान-पान की शुद्धि बनाए रखे। मद्य और मांस का प्रयोग न करे। तंबाकू आदि नशीली चीजों का सेवन न करे। कन्या-विक्रय न करे। रिश्वत न ले। इस प्रकार के छोटे-छोटे नियमों को अंगीकार करके व्यक्ति धर्म की आराधना कर सकता है। मैं मानता हूँ कि जो भी व्यक्ति अपने जीवन को प्रशस्त बनाना चाहता है, उसके लिए यह एक सुंदर मार्ग है। आप इस पथ को अपनाएं। निश्चित ही आपको अनिर्वचनीय शांति और सुख की प्राप्ति होगी।

कंटालिया

१३ अप्रैल १९६०

१९. शांति का राजपथ

सत्संग का मूल्य

भारतीय परंपरा में सत्संग को बहुत मूल्य दिया गया है। जीवन की शोधि एवं पवित्रता के लिए उसे आवश्यक से भी आगे एक अनिवार्य तत्त्व के रूप में स्वीकार किया गया है। जिस प्रकार भोजन के अभाव में शरीर कृश और शिथिल हो जाता है, उसी प्रकार सत्संग के अभाव में व्यक्ति की धार्मिकता कृश और शिथिल हो जाती है। भोजन के अभाव में जिस प्रकार एक अवधि के पश्चात यह शरीर विनष्ट हो जाता है, उसी प्रकार सत्संग का अभाव एक स्थिति में पहुंचकर व्यक्ति को धर्म से पराङ्मुख कर देता है, भ्रष्ट कर देता है। भगवान महावीर ने **सवणे नाणे विज्ञाणे**..... के रूप में सत्संग की दस उपलब्धियां गिनाई हैं। उसमें प्रथम है **सवणे**। यानी श्रवण। सत्संग करनेवाले व्यक्ति को धर्म-तत्त्व सुनने का दुर्लभ अवसर प्राप्त होता है। इस रूप में वह आत्मोदय की दिशा में प्रस्थान शुरू करता है। इसकी दसवीं यानी अंतिम उपलब्धि है **अक्रिया सिद्धि** यानी मोक्ष। तात्पर्य यह कि सत्संग के सोपान चढ़नेवाला व्यक्ति उसकी नौ सीढ़ियां चढ़कर दसवीं सीढ़ी के रूप में मोक्ष को प्राप्त कर सकता है।

गोस्वामी तुलसीदासजी ने तो इस संदर्भ में बहुत ही बड़ी बात कही है। उन्होंने एक पल के सत्संग-सुख को स्वर्ग और मोक्ष के सुख से भी बढ़कर बताया है।

तातह्ण! स्वर्ग अपवर्ग सुख, धरहि तुला इक अंग।

तुले न ताहि सकल मिल, जो सुख लव सत्संग॥

कोई पूछ सकता है, क्या महावीर ने भी सत्संग किया था? नहीं किया था। पर हमको यह ध्यान रहना चाहिए कि महावीर-जैसे पुरुष तो संसार में विरल ही होते हैं। लाखों-करोड़ों व्यक्तियों में कोई एक व्यक्ति ऐसा हो सकता है, जिसकी आत्मा बिना सत्संग किए ही उदबुद्ध हो जाती

है, जिसे अंतर ज्ञान हो जाता है। कहा जाता है कि अष्टावक्र ऋषि को गर्भावस्था में ही विशिष्ट ज्ञान की प्राप्ति हो गई थी। अपने अपूर्व ज्ञान के आधार पर उन्होंने गर्भावस्था में ही पिता की भूल जान ली थी। पर जन-सामान्य तो ऐसा नहीं कर सकता। वह तो सत्संग आदि के माध्यम से ही आत्म-ज्ञान कर सकता है, आत्मोदय साध सकता है।

जीवन का लक्ष्य

जैसा कि मैंने पूर्व में कहा, सत्संग का परम लाभ मोक्ष है। मोक्ष यानी बंधन-मुक्ति। गहराई से देखा जाए तो हमारे जीवन का एकमात्र लक्ष्य यह बंधन-मुक्ति है। कर्मों की शृंखला में बंधे हुए हम इस संसार में अनंत-अनंत काल से जन्म-मरण के रूप में परिभ्रमण कर रहे हैं। जब तक हम इस बंधन से मुक्त नहीं होंगे, हमारी साधना सफल नहीं होगी। इसलिए सत्संग का पूरा-पूरा लाभ उठाते हुए हर व्यक्ति को इस बंधन-मुक्ति की साधना में गति-प्रगति करनी चाहिए।

साधना का आधार

प्रश्न होगा, हमारी साधना का आधार क्या है? यों तो इस संदर्भ में अनेक बातें बताई जा सकती हैं, पर साधना का मौलिक आधार है अहिंसा। एक अहिंसा की साधना में बंधनमुक्ति की सारी साधना समाहित हो जाती है। पर अहिंसा के व्यापक स्वरूप से बहुत कम लोग परिचित हैं। प्रायः लोग अहिंसा का अर्थ किसी प्राणी को नहीं मारना करते हैं। ठीक है, किसी को नहीं मारना अहिंसा है। पर अहिंसा की व्याप्ति यहां तक ही सीमित नहीं है। यह तो इसके निषेधात्मक रूप का एक अंग है। अपने भाषा-प्रयोग से किसी के मन को न दुखाना, किसी के प्रति मन में दुश्चिंतन न करनाहये दोनों विकल्प भी अहिंसा के निषेधात्मक रूप के ही हिस्से हैं। निषेधात्मक रूप की तरह ही अहिंसा का विधेयात्मक रूप भी है। मैत्री, करुणा, दया, आदि तत्त्व उसके विधेयात्मक रूप के हिस्से हैं।

पूछा जा सकता है कि मैत्री किसके साथ की जाए? मित्र से मित्रता करने की बात तो बहुत सामान्य है। अपने संबंधीजनों से भी मित्रता कौन नहीं करता? किंतु वास्तविक अहिंसा वहां निखरती है, जहां व्यक्ति अपने दुश्मन के साथ भी मैत्री-संबंध स्थापित करता है।

संयम और शांति

अहिंसा की साधना के लिए जीवन में संयम का विकास नितांत अपेक्षित है। असंयमी व्यक्ति अहिंसा की साधना में सफल नहीं हो सकता। एक अपेक्षा से से तो संयम अहिंसा का ही दूसरा नाम है। मैं देखता हूँ, लोग सुख चाहते हैं, समृद्धि चाहते हैं, पर संयम को जीवन में अपनाना नहीं चाहते। वे चाहते हैं कि हमारा असंयम तो ज्यों-का-त्यों चलता रहे और हमें शांति और सुख भी मिल जाए। पर यह कैसे संभव है? पिछले दिनों बंगाल, बिहार और उत्तर प्रदेश की यात्रा के दौरान स्थान-स्थान पर लोग मेरे पास आते और कहतेह 'महाराजह! मन में शांति नहीं है। कोई उपाय बताएं।' मैं पूछताह 'शांति क्यों नहीं हैह? क्या आपके आजीविका की व्यवस्था नहीं हैह?' वे कहतेह 'नहीं, आजीविका की तो कोई समस्या नहीं है।' मैं फिर पूछताह 'क्या आप बीमार हैंह?' वे कहतेह 'नहीं, बीमार तो नहीं हैं।' मैं तब पूछताह 'क्या संतान नहीं हैह?' वे कहतेह 'बेटे-बेटियां तो बहुत हैं।' मैं अगली बात पूछताह 'क्या पत्नी झगड़ालू हैह?' वे कहतेह 'नहीं, वह तो बेचारी बहुत भली है।' उनकी सारी बात सुनकर मैं हैरान रह जाता। मैं पूछताह 'फिर आपको शांति क्यों नहीं है?' वे कहतेह 'यों ही न जाने क्यों मन में अशांति बनी रहती है।' उनकी स्थिति समझकर मैं उन्हें संयम को अपनाने की बात कहता। संयम की बात सुनकर वे बोलतेह 'महाराजह! आप की बात तो ठीक है, पर संयम का मार्ग बहुत कठिन है। आप तो हमें कोई ऐसा मंत्र बताएं, जिससे हमें शांति मिल जाए, हमारी समस्या समाप्त हो जाए।'

बंधुओह! मुझे लगता है, यह कोई सौ-दो सौ-चार सौ लोगों की मनःस्थिति नहीं, अपितु संसार के अधिकतर लोगों की मानसिकता लगभग ऐसी ही है। यही तो कारण है कि चाहने पर भी लोगों को शांति और सुख नहीं मिलता। सुख और शांति का अनुभव करना है तो संयम को अपनाने के सिवाय दूसरा कोई रास्ता नहीं है, विकल्प नहीं है। अणुव्रत संयम का राजपथ है, संयममय जीवन जीने की कला है। अणुव्रत का घोष ही हैह **संयमः खलु जीवनम्**ह संयम ही जीवन है। जो भी व्यक्ति इस राजपथ पर पदन्यास करता है, उसको शांति की प्राप्ति होना असंदिग्ध है।

सोजत रोड १४ अप्रैल १९६०

२०. शांति और सुख से जीने का मंत्र

संतों का जीवन एक राही का जीवन है। आज यहां तो कल और कहीं। परसों फिर अन्यत्र। यह क्रम चलता ही रहता है। वस्तुतः परिव्रजन साधु-जीवन का एक अंग है। इसलिए हम साधुओं का अपना कोई स्थान नहीं होता। साधु-संतों को गगनचुंबी अट्टालिकाएं और राजभवन सराय प्रतीत होते हैं। एक बार कोई संन्यासी घूमते-घूमते एक नगर में आया। उसने राह-बहते एक व्यक्ति से पूछाह 'सराय कहां हैह?' उसने उत्तर दियाह 'आगे।' संन्यासी कुछ कदम आगे चला कि राजमहल आ गया। वह उसमें प्रवेश करने लगा। द्वारपाल ने देखा और उसने संन्यासी को रोकते हुए कहाह 'बाबाह! कहां जा रहे होह?' संन्यासी ने कहाह 'सराय में।' द्वारपाल बोलाह 'पर यह सराय कहां हैह? यह तो राजभवन है।' संन्यासी ने प्रतिवाद करते हुए कहाह 'नहीं, यह सराय ही है।' और ऐसा कहता हुआ वह द्वारपाल की रोक-टोक के बावजूद राजमहल में प्रविष्ट हो गया। द्वारपाल के समक्ष मजबूरी की स्थिति थी। अन्य कोई होता तो वह उसका हाथ पकड़कर रोक लेता, गिरफ्तार करवा देता, बलात बाहर निकाल देता। पर संन्यासी के साथ ऐसा करना तो उसने उचित नहीं समझा। ऐसी स्थिति में संन्यासी द्वारपाल के निषेध को सुना-अनसुना करता हुआ राजा तक पहुंच गया। राजा ने सोचाहसंभवतः कोई पागल है या फिर नशे में धुत है। उसने संन्यासी से पूछाह 'बाबाह! कहां से आए होह?' संन्यासी ने कहाह 'जंगल से।' राजा ने तब पूछाह 'कहां आए हो?' संन्यासी ने अल्हड़ता के साथ कहाह 'सराय में।' राजा बोलाह 'पर, यह तो राजभवन है, सराय नहीं है।' संन्यासी ने राजा का प्रतिवाद कियाह 'नहीं, यह सराय है।' राजा थोड़ा आवेश में आ गया। बोलाह 'होश में तो होह?' संन्यासी ने कहाह 'मैं पूर्ण होश में हूं। अच्छा बताओ, सराय किसे किसे कहते हैं?' राजा ने कहाह 'मैं क्या बताऊं, तुम ही बताओ।' संन्यासी

बोलाह 'यह तो सीधी-सी बात है। जहां कुछ समय के लिए विश्राम किया जाता है, वह सराय है। अच्छा बोलो, इस भवन में तुम्हारे पिताजी ठहरे थेह?' राजा बोलाह 'हां, ठहरे थे।' संन्यासी ने पूछाह 'पिताजी से पूर्व तुम्हारे दादाजी ठहरे थे ?' राजा ने कहाह 'हां, वे भी ठहरे थे।' संन्यासी ने फिर पूछाह 'पड़दादा, लड़दादा आदि भी ?' राजा ने स्वीकृतिसूचक सिर हिलाते हुए कहाह 'हां, ठहरे थे।' तब संन्यासी ने राजा की अंतश्चेतना को झकझोरते हुए कहाह 'बोलो, फिर राजभवन और सराय में क्या अंतर हुआ?'

राजा को प्रतिबोध प्राप्त हुआ। वह श्रद्धाभाव से विभोर बना संन्यासी के चरणों में प्रणत हो गया।

तेरापंथ संघ के प्रणेता आचार्य भिक्षु एक महान आध्यात्मिक पुरुष थे। उन्होंने साधु-साध्वियों को स्थानविशेष की सीमा में न बंधने का निर्देश दिया। उन्होंने स्पष्ट कहा कि साधु-साध्वियों के लिए किसी भी जगह कोई स्थान नहीं बनना चाहिए। साधना को किसी स्थानविशेष से बांधना उचित नहीं है। वह तो गांव, नगर, जंगल, मंदिर, मठ, मकान, दुकान, श्मशान.....कहीं भी की जा सकती है। साधु जिस समय जहां रहे, ठहरे, उस समय वही उसका साधना-स्थल बन जाए, धर्मस्थान बन जाए। उनके इस स्पष्ट निर्देश का ही परिणाम है कि तेरापंथ के साधु-साध्वियों के प्रवास की दृष्टि से कहीं कोई मकान नहीं बनता। वे जहां भी जाते हैं, वहां सहज रूप में जो भी स्थान उन्हें उपलब्ध हो जाता है, उसमें वे रह जाते हैं तथा जब वहां से प्रस्थान करते हैं, तब उसे उसके मालिक को संभला देते हैं। गहराई से देखा जाए तो साधना की दृष्टि से यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इससे साधु-साध्वियों की किसी स्थानविशेष के प्रति आसक्ति/ममकार की भावना पैदा होने का प्रसंग नहीं बनता।

वैसे देखे जाए तो साधु-साध्वियों को अपने लिए स्थान की अपेक्षा ही कहां हैह? वे तो प्रकृति में जीनेवाले होते हैं। प्राकृतिक संपदा से संपन्न वे एक राजा से भी ज्यादा सुखी होते हैं। राजर्षि भर्तृहरि ने कहा हैह

**मही रम्या शय्या विपुलमुपधानं भुजलता,
वितानं चाकाशं व्यजनमनुकूलोऽयमनिलः।
स्फुरद्दीपश्चन्द्रो विरतिवनिता संगमुदितः,
सुखं शांतं शेते मुनिरतनुभूतिर्नृप इव॥**

यह तो हुई साधु-साध्वियों की बात। अब स्वयं की बात आप समझें। जो व्यक्ति इस संसार को एक सराय मानकर चलता है, अपने-आपको राही मानता है, वह संसार में गृद्ध नहीं होता। इसके विपरीत जो व्यक्ति इस संसार को स्थिरवास मानता है, वह घर, परिवार और भौतिक पदार्थों के प्रति आसक्ति पालता हुआ अन्याय, अनीति, दुराचार, चोरी जैसी अनेकानेक बुराइयों में प्रवृत्त होता है। उसके परिणामस्वरूप उसकी जिंदगी अशांति और दुःख का आगर बन जाती है। इसलिए आप यदि सुख और शांति से जीना चाहते हैं तो इस संसार में स्वयं को राही मानें, स्थायी नहीं। यदि यह समझ या दृष्टि विकसित हो जाती है तो मानना चाहिए कि आपने शांति और सुख से जीने का मंत्र सीख लिया।

२१. जीवन-सुधार का राजपथ

जन-जीवन सुधार-सम्मेलन का समोयाजन किया गया है। मेरी दृष्टि में जन-जीवन-सुधार की अपेक्षा जीवन-सुधार की बात ज्यादा महत्वपूर्ण है। क्यों? यह इसलिए कि दूसरों के सुधार की चर्चा, जनता के सुधार की बात आजकल बहुत व्यापक स्तर पर चलती है। हर व्यक्ति इस चर्चा-वार्ता में रस लेता है। पर कठिनाई यह है कि स्वयं के सुधार की बात को नजरअंदाज कर देता है। उसकी वह तनिक भी चिंता नहीं करता, उसके लिए वह किंचित भी प्रयत्न नहीं करता। यही कारण है कि सुधार नहीं हो रहा है।

सुधार की प्रक्रिया

यह एक सनातन सत्य है कि जब तक व्यक्ति स्वयं का सुधार नहीं कर लेता, तब तक वह दूसरे का सुधार नहीं कर सकता। इसलिए जिन्हें भी सुधार अभीष्ट है, वे स्वयं से शुभ शुरुआत करें, स्वयं के जीवन को परिष्कृत एवं परिमार्जित करें। अन्यथा सुधार की चर्चा की कोई सार्थकता नहीं है। अणुव्रत-आंदोलन जीवन-सुधार का राज-पथ है। यह हृदय-परिवर्तन के स्तर पर व्यक्ति-व्यक्ति के जीवन-सुधार का व्यापक अभियान है। यह मानव-मात्र के सुधार के लक्ष्य से कार्य कर रहा है। इसलिए कोई भी व्यक्ति, भले वह किसी भी जाति, वर्ग, वर्ण, संप्रदाय और देश से क्यों न संबद्ध हो, इस पथ पर चलकर अपना सुधार कर सकता है, अपने जीवन का सही अर्थ में निर्माण कर सकता है।

अणुव्रत धरती को स्वर्ग बनाना चाहता है

अणुव्रत-आंदोलन व्यक्ति-सुधार के माध्यम से इस धरती को स्वर्ग बनाना चाहता है। इसलिए वह प्रत्येक शहर, गांव और घर को अपना कार्यक्षेत्र बनाता है। वह प्रत्येक शहर एवं गांव का इस प्रकार निर्माण चाहता है कि वहां का कोई भी राज्याधिकारी रिश्वत लेकर अन्याय न

करे, जनता और सरकार को धोखा न दे, वहां का कोई भी व्यापारी बेमेल मिलावट एवं तोल-माप में गड़बड़ी करके ग्राहकों को धोखा न दे, अति लोभ के वशीभूत होकर शोषण न करे, वहां का कोई भी विद्यार्थी अवैध तरीकों से परीक्षा में उत्तीर्ण होने का प्रयत्न न करे, किसी भी प्रकार की तोड़-फोड़मूलक हिंसात्मक प्रवृत्ति में भाग न ले, वहां का कोई भी नागरिक वोट की खरीद और बिक्री न करे, वहां का कोई भी व्यक्ति व्यसनग्रस्त न हो। इस प्रकार अणुव्रत-आंदोलन समाज के हर वर्ग को प्रामाणिक और स्वस्थ देखना चाहता है। यदि समाज का हर व्यक्ति और वर्ग अपने जीवन को प्रामाणिक एवं स्वस्थ रखने के लिए संकल्पित हो जाए तो कोई कारण नहीं कि यह धरती स्वर्ग न बने। इसलिए मैं आह्वान करता हूँ कि आपके कस्बे का हर भाई और बहिन अणुव्रत के राजपथ पर आए।

गोगूदा

१२ मई १९६०

२२. शाश्वत शांति का मूल मंत्रहभेद-विज्ञान

हम सब शरीर-धारी प्राणी हैं। तात्त्विक दृष्टि से शरीर सांसारिक प्राणी की एक अनिवार्यता है। दूसरे शब्दों में यह उसकी एक मजबूरी है। कोई भी सांसारिक प्राणी लाख चाहकर भी इस अवश्यंभाविता का अपवाद नहीं हो सकता। और जिस दिन कोई सांसारिक प्राणी इस शरीर से मुक्त हो जाता है, उस दिन वह इस संसार से भी मुक्त हो जाता है। यानी शरीरमुक्त प्राणी की इस संसार में कोई भी स्थिति नहीं है। निष्कर्ष की भाषा में ऐसा भी कहा जा सकता है कि शरीरमुक्ति का अर्थ हैह संसारमुक्ति।

पर हम मात्र शरीर नहीं हैं। इस दृश्यमान शरीर में एक अनुभव करनेवाला तत्त्व भी है। क्या है वह तत्त्व? यदि उसको जड़ प्रकृति माना जाए तो उसे शरीर की तरह किसी प्रकार के सुख- दुःख का अनुभव नहीं होना चाहिए। पर हम देखते हैं कि उसे सुख-दुःख का अनुभव होता है। ऐसी स्थिति में हमें मानना होगा कि एक अविनाशी चेतन तत्त्व है, जिसे तत्त्वविदों ने आत्मा के नाम से पुकारा है। चूंकि वह आत्मा नामक तत्त्व पौद्गलिक नहीं है, इसलिए उसे हाथ में लेकर दिखाया जाना सर्वथा असंभव है। जिस प्रकार सुख और दुःख दोनों अनुभूति के विषय हैं, चक्षु-दर्शन के नहीं, ठीक उसी प्रकार आत्मा भी दिव्य ज्ञान-चक्षु का विषय है, स्थूल चर्म-चक्षु का नहीं। आत्मा का चेतनत्व इस दृश्य स्थूल शरीर से भिन्न हैहयह भेद-विज्ञान आज प्रायः लुप्त हो चुका है। मेरा ऐसा मानना है कि भेद-विज्ञान के अभाव में ही मनुष्य की अशांति और दुःख का बीजारोपण होता है। यदि व्यक्ति भेद-विज्ञान के अनुभव से संपन्न हो, यानी यदि वह आत्मानुभव से यह समझ ले कि मैं जड़ शरीर नहीं हूँ, न ही मेरा यहां कोई आत्मीय है, बल्कि मैं तो चेतन-स्वरूप आत्मा हूँ, तो शरीर के स्तर पर होनेवाला सुख या दुःख उसे कैसे संवेदित कर सकता

है ? गजसुकुमाल मुनि का उदाहरण हमारे सामने है। इस भेद-विज्ञान के कारण ही वे यह अनुभव कर सके कि ये धधकते अंगारे मुझे नहीं जला रहे हैं। ये तो मात्र स्थूल जड़ तन को जलानेवाले हैं। और मैं यह दृश्य जड़ तन नहीं हूँ। मैं तो इस जड़ तन में स्थित सत आनन्दरूप हूँ। इस अनुभूति का परिणाम यह आया कि प्रचंड शोले शरीर को जलाते रहे और गजसुकुमाल मुनि आत्मानन्द रूपी सरोवर में डुबकियां लगाते रहे। एक अवधि तक इस स्थिति से गुजरते-गुजरते अंततोगत्वा पूरा शरीर जलकर भस्म हो गया और आत्मा अखंड शांति में विलीन होकर अमर हो गई। इससे स्पष्ट है कि आत्मा और शरीर यानी चेतन और जड़ का भेद-विज्ञान ही शाश्वत शांति का मूल मंत्र है। जो भी भाई-बहिन इस शाश्वत शांति को प्राप्त करना चाहते हैं, उनको मैं आह्वान करता हूँ कि वे इस भेद-विज्ञान को जानें, समझें और अनुभव के स्तर पर जीएं। निश्चित वे अपने जीवन की सार्थकता अनुभव करेंगे।

गोगूदा

१३ मई १९६०

२३. सुधार की दिशा में पहला कदम

धर्म की व्याख्या अनेक-अनेक बार कर चुका हूँ। धर्म आत्मा का मौलिक गुण है। इसमें जो जितना गहरा पैटेगा, वह उतना ही अधिक धार्मिक बनेगा। विस्तृत व्याख्या में धर्म सहिष्णुता, क्षमा, शांति, शील, संयम और संतोष है, आत्म-गुणों का विकास है। प्रियधर्मी और दृढ़धर्मी को इस धर्म में रुचि होती है। लेकिन आज तो जन-मानस की रुचि आक्षेप और असत आलोचनाओं में बढ़ रही है। अच्छा साहित्य पढ़ने के लिए भले किसी को समय मिले या न मिले, पर अश्लील और निकृष्ट साहित्य तो राह चलते सड़क पर रुक कर ही पढ़ लिया जाता है। बहुत-से लोगों के घरों में ऐसा अश्लील, निकृष्ट और घासलेटी साहित्य मिलेगा, जो वासना और कामुक भावना को प्रोत्साहन देता है और जिसकी अग्नि-परीक्षा ही अवशेष है। जन-मानस में इतना हंस-विवेक भी नहीं है, जो दूध को पी जाए और मिले पानी को छोड़ दे। कहने का आशय है कि लोग गलत तत्त्व को सहज ग्रहण कर लेते हैं और सत्साहित्य को जीवन में स्थान नहीं दे रहे हैं। मैं आज के सुधारवादी युवकों और पाठकों से कहना चाहूँगा कि वे कोई ऐसा प्रबंध करें कि उनके यहां जीवन को पतित और विकारग्रस्त बनानेवाला साहित्य न आए। मैं क्या कहूँ, हमारी ये महिलाएं, जिनको घर के कार्यों से समय नहीं मिलता, जो अधिक शिक्षित नहीं हैं, उनके कमरों व अलमारियों में भी अश्लील साहित्य खूब सजा हुआ मिलेगा। आप सभी इस सचाई को समझें कि जहां सत्साहित्य जीवन है, वहीं अश्लील साहित्य जीवन-पतन का बहुत बड़ा हेतु है। इसलिए आप अश्लील साहित्य को पढ़कर जीवन विकारग्रस्त और पतनोन्मुख न बनाएं। मैं यहां तक कहूँगा कि सुधारों में पहला सुधार अश्लील, निकृष्ट और घासलेटी साहित्य का बंद करने का हो, सुधार की दिशा में यह पहला चरणन्यास हो।

अणुव्रत-आंदोलन किसी एक धर्म, व्यक्ति अथवा समाज में सीमित सुधार की दिशा में पहला कदम

न होकर विश्व-संस्कृति के उन तमाम मानवीय सद्गुणों की संग्रथित माला है, जिनके बारे में प्रत्येक धर्म का प्रत्येक आदर्श जिज्ञासु चर्चाएं करता रहा है। अपेक्षा है, जाति, वर्ण, संप्रदाय आदि की संकीर्णताओं से दूर रहकर व्यक्ति इस आंदोलन की आचार-संहिता को स्वीकार करे। धर्म की दिशा में उसका चरणान्यास हो जाएगा।

२४. संयम सबसे बड़ा गुण है

भारतीय संस्कृति की यह एक विशेषता है कि इसमें व्यक्ति का नहीं, अपितु गुणों का महत्त्व रहा है। जिस व्यक्ति के जीवन में सद्गुणों का प्रकटीकरण हुआ है, वह सहज रूप में ही जन-जन के लिए पूज्य बन गया।

कठिन है मनुष्य को मनुष्य बनाना

सद्गुणों में पहला स्थान है संयम का। यह इसलिए कि इसके अभाव में मनुष्य यथार्थ में मनुष्य भी नहीं रह पाता। मेरा ऐसा मानना है कि मनुष्य को देवता बनाना सुगम है, पर सच्चा मनुष्य बनाना बहुत कठिन है। कैसे? बस किसी व्यक्ति को महत्त्व दिया उसके पुष्प चढ़ाए और वह देवता बन गया। पर मनुष्य को मनुष्य बनाना इतना आसान कार्य नहीं है। यहां बाह्य आडंबर और सौंदर्य कोई काम नहीं आता। इस निर्मिति के लिए तो आंतरिक सौंदर्य अपेक्षित है, जो कि एकमात्र संयम से प्राप्त किया जा सकता है। पर संयम कोई बाहर से लादे जानेवाला तत्त्व नहीं है। वह तो हमारी आत्मा का तत्त्व है। इसलिए अंतर की पवित्र भावना के द्वारा ही उसे विकसित किया जा सकता है, जो व्यक्ति अपने अंतर की भाव-धारा की पवित्रता बनाए नहीं रख सकता उसके लिए संयम की प्राप्ति असंभव है।

अणुव्रत आंदोलन संयम का आंदोलन है

अणुव्रत का आंदोलन संयम की साधना का आंदोलन है। उसका घोष ही है—**संयमः खलु जीवनम्**—संयम ही जीवन है। मनुष्य सेवक बना पुजारी बना, भक्त बना पर यदि उसमें चरित्रनिष्ठा नहीं जागी, उसने अपने जीवन को संयम से भावित नहीं किया तो मेरी दृष्टि से वह कुछ भी नहीं बना। मैं हजारों पुष्पमालाओं धूप-दीपों को संयम और चरित्र के समक्ष कोई महत्त्व नहीं देता। अलबत्ता मैं इस सचाई को स्वीकार करता हूँ

कि संयम की साधना एक कठिन साधना है। आप देखें, एक व्यक्ति अखाड़े में विजयी हो सकता है, पर धूम्रपान और मद्यपान करना नहीं छोड़ पाता, जीवनगत अन्यान्य दुर्व्यसनों से नहीं छूट पाता। अपनी घृणित वृत्तियों का त्याग नहीं कर पाता। कुछ लोग ऐसा इस भाषा में सोचते हैं कि संयम की साधना से व्यक्ति का परलोक सुधरता है। पर परलोक तो बहुत आगे की बात है। उसकी चर्चा एक बार हम छोड़ें। संयम की साधना तो वर्तमान जीवन में शांति से जीने के लिए अत्यंत अपेक्षित है। असंयम और शांति का परस्पर कोई संबंध नहीं। दूर का भी संबंध नहीं। अणुव्रत-आंदोलन के माध्यम से हम वर्तमान जीवन को शांति से जीने का मार्ग प्रशस्त कर रहे हैं। किंतु कैसी बात है कि इस प्रकार का पुनीत कार्य करने पर भी कुछ लोग हमारी आलोचना करते हैं। पर हमें आलोचना से किंचित भी घबराना नहीं है, बल्कि उससे भी उपादेय तत्त्व को ग्रहण करना है, अच्छी बात सीखनी है।

प्रसंग महात्मा गांधी का

इस संदर्भ में मुझे महात्मा गांधी के जीवन का एक प्रसंग स्मृति में हो आया। एक बार एक व्यक्ति ने गांधीजी को पत्र लिखा। उसमें बहुत हलके शब्दों में उनकी आलोचना की गई थी। गांधीजी ने पत्र पढ़ा, उसमें लगी आलपीन को निकालकर अपने पास रख लिया और उस पत्र को रद्दी की टोकरी में डाल दिया। पत्र-लेखक वह व्यक्ति वहीं खड़ा था। उसने गांधीजी से पूछा 'आपने इस पत्र को रद्दी की टोकरी में क्यों डाल दिया?' गांधीजी ने कहा 'पत्र में काम की वस्तु मात्र आलपीन थी। उसे मैंने अपने पास रख लिया। निस्सार को रखकर मैं क्या करता ? उसे मैंने फेंक दिया।'

यही बात मैंने अभी कही। आलोचना में यदि कोई सार की बात है तो उसे हमें सहर्ष ग्रहण कर लेना चाहिए। शेष निरर्थक और निस्सार बातों की उपेक्षा कर देनी चाहिए। यह भी एक प्रकार की साधना है। संयम की साधना के बिना ऐसा संभव नहीं है। मैं विद्यार्थियों एवं शिक्षकों से बलपूर्वक कहना चाहूंगा कि आप अपने जीवन में संयम को आधिकाधिक स्थान दें। ऐसा करके आप समाज और राष्ट्र की वास्तविक सेवा कर सकेंगे।

राजसमंद ४ अगस्त १९६०

२५. नैतिकता और चरित्र के बिना स्वतंत्रता अधूरी

राष्ट्र के नव-निर्माण का मौलिक आधार

आज भारत राजकीय दासता से मुक्त है। भारत का समूचा तंत्र भारतीय नागरिकों के हाथों में है। विदेशी सत्ता का कोई हस्तक्षेप नहीं है। देश के नव-निर्माण के जिम्मेदार स्वयं भारतीय नागरिक हैं। मैं देख रहा हूँ कि देशवासियों ने नव-निर्माण एवं भौतिक सुख-साधनों की उपलब्धि के लिए बड़ी-बड़ी सड़कों, बांधों, विद्यालय-महाविद्यालयों आदि की सर्जना की है। हालांकि मैं इस निर्माण को राष्ट्र के लिए अनुपयोगी और अनावश्यक नहीं मानता, तथापि इतना बहुत स्पष्ट है कि देश की जनता का चरित्र-निर्माण इससे भी ज्यादा आवश्यक है, बल्कि देश के नव-निर्माण का मौलिक आधार है। इस निर्माण के अभाव में सारा भौतिक निर्माण धरा-का-धरा रह जाता है। मैं ऐसा तो नहीं कह सकता कि राष्ट्र का नेतृ-वर्ग इस बिंदु पर नहीं सोचता, पर इतना सुस्पष्ट है कि यह निर्माण होना अभी शेष है। यही वह कारण है, जिसके चलते स्वराज्य सुराज्य नहीं बना।

जरूरी है नैतिक विकास

यह एक प्रकट यथार्थ है कि किसी भी राष्ट्र की उन्नति के लिए नैतिक विकास सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटक है। उसके बिना रामराज्य रावणराज्य बन जाता है। इसलिए यदि भारतवर्ष को रावणराज्य बनने से रोकना है तो राष्ट्र के व्यक्ति-व्यक्ति को अपनी नैतिक चेतना को जगाना चाहिए। मैं नहीं समझता, वह कैसा स्वतंत्र, जो अपनी आंखों, कानों और हाथ-पैरों को भी स्वतंत्र में नहीं रख पाता। वह कैसा स्वतंत्र, जो दुर्व्यसनों का दास है।

भारतीय लोगों को यह बात सदैव ध्यान में रखनी चाहिए कि भारतीय संस्कृति की बुनियाद संयम, चरित्र और नैतिकता है। इस मजबूत

बुनियाद के कारण ही वह बाह्य विभिन्न झंझावातों में अपने आदर्शों पर अटल रह सका है। स्वतंत्रता का मूल आधार भी यही है। इसलिए स्वतंत्रता दिवस के इस राष्ट्रीय पर्व के दिन मैं राष्ट्र के नागरिकों को यही संदेश देता हूँ कि वे संयम, चरित्र और नैतिकता की लहर पैदा करें। ऐसा करके ही वे स्वतंत्रता का सही आस्वाद ले सकेंगे।

महिलाएं जागरूक बनें

महिलाएं बड़ी संख्या में मेरे समाने समुपस्थित हैं। आज के इस अवसर पर मैं उनसे कहना चाहूंगा कि वे फैशन, सुख-सुविधा, अंधविश्वास एवं कुरुद्धियों का परित्याग करके घर का वातावरण नैतिक एवं पवित्र बनाने के लिए विशेष जागरूक रहें। क्या वे सीता को भूल गईं? भयावह अरण्य में परित्यक्ता एकाकिनी सीता ने सारथि के माध्यम से राम को कहलाया थाह्र'नाथ! लगता है कि लोगों की बातें सुनकर आपने अपनी अर्धांगिनी का परित्याग करके एक नई परंपरा का प्रारंभ किया है। आपने मुझे छोड़ा, यह मेरे लिए इतनी चिंता का विषय नहीं, जितनी चिंता इस विषय की है कि नास्तिकों की बातों में आकर कहीं आप धर्म को न छोड़ दें। मेरा आपसे साग्रह निवेदन है कि आप किसी के भी कहने से कभी धर्म से विमुख मत होना, उसे मत छोड़ना।' मैं महिलाओं से पूछना चाहता हूँ, सीता की तरह क्या वे अपने-अपने पति से यह नहीं कहेंगी कि आप अपने नैतिक धर्म को कभी न छोड़ें, मानवता से विमुख न बनें, चरित्र का परित्याग न करें?

अणुव्रत-आंदोलन नैतिकता, सच्चरित्र और मानवता के निर्माण का आंदोलन है, जीवन में संयम की प्रतिष्ठा का आंदोलन है। इसको अपनाकर कोई भी व्यक्ति सुखी, शांत और पवित्र जीवन जी सकता है। आजादी के इस राष्ट्रीय पर्व के अवसर पर मैं जन-जन से इस आंदोलन की आचार-संहिता को अपनाने का आह्वान करता हूँ।

राजसमंद

१५ अगस्त १९६०

२६. अणुव्रत-आंदोलन

यह एक सामान्य-सी बात है कि रोग जितना व्यापक होता है, उसकी चिकित्सा भी उतने ही व्यापक स्तर पर करनी पड़ती है। वर्तमान युग की स्थिति की जब मैं समीक्षा करता हूँ तो एक बात बहुत स्पष्ट रूप से समझ में आती है कि आज चरित्रहीनता का रोग बहुत व्यापक बन गया है। इस रोग का प्रतिकार तभी संभव है, जब इसकी व्यापक और सघन चिकित्सा करने का प्रयत्न किया जाए। अणुव्रत-आंदोलन इसी स्तर पर इस रोग की चिकित्सा करके जन-जन को स्वस्थ बनाना चाहता है।

हम इस बात को गहराई से समझें कि रोग उन्हीं को सताते हैं, जो सुसुप्त हैं। जाग्रति का जीवन जीनेवालों को रोग नहीं सता सकते। पर मैं यहां ऊपरी सुसुप्ति और जाग्रति की बात नहीं कर रहा हूँ। वह तो शरीर के स्तर की बात है। यहां मेरा अभिप्राय आंतरिक सुसुप्ति और जाग्रति से है। इस अर्थ में असंयमी सुसुप्त हैं और संयमी जाग्रत। प्रकारांतर से ऐसा कहा जा सकता है कि नैतिक जीवन जीनेवाला जागृत है और अनैतिकतापूर्ण जीवन जीनेवाला सुसुप्त। अणुव्रत-आंदोलन संयम की चेतना तथा नैतिक मूल्यों के प्रति आस्था जगाकर व्यक्ति-व्यक्ति के अंतर में जाग्रति लाना चाहता है। यह एक अनुभूत सचाई है कि आचरण से पूर्व उसके प्रति आस्था की जाग्रति आवश्यक है, परम आवश्यक है। क्यों? यह इसलिए कि जागरूक व्यक्ति प्रतिकूल परिस्थितियों में भी अपने जीवन को सही दिशा में आगे बढ़ाने के लिए चिंतन एवं प्रयत्न करता रहेगा। आज नैतिक आचरण की बात तो बहुत दूर, उसके प्रति निष्ठा भी कहां है? इस बात को ध्यान में रखकर अणुव्रत-आंदोलन नैतिक मूल्यों, संयम एवं चरित्र के प्रति जन-आस्था जगाकर समाज और राष्ट्र में आंतरिक जाग्रति लाने का प्रयास कर रहा है।

अणुव्रत-आंदोलन शाश्वत है

कुछ व्यक्ति अणुव्रत-आंदोलन का सामयिक महत्त्व तो स्वीकार करते हैं, पर इसकी शाश्वतता के प्रति संदेहशील हैं। एक सीमा तक उनका संदेह गलत भी नहीं है, क्योंकि अणुव्रत-आंदोलन सामयिक बुराइयों पर प्रहार करके वार्तमानिक स्थितियों का भी परिष्कार करता है। पर यह आंदोलन का गौण रूप है। इससे भी अधिक सशक्त आंदोलन का शाश्वत रूप है। बुराई भले सामयिक हो अथवा शाश्वत, वह होगी शाश्वत मूल्यों की विध्वंसक ही। अतः शाश्वत सिद्धांतों के आधार पर ही सामयिक बुराइयों पर प्रहार किया जाता है। आप देखें, पूर्व में अणुव्रत-आंदोलन के एक नियम की एक धारा थीहमैं जाली राशन कार्ड नहीं बनाऊंगा। किंतु आज की बदली हुई परिस्थिति में जब कि धान्य पर भी नियंत्रण नहीं रहा, इस धारा की कोई अपेक्षा नहीं है। इसलिए इस धारा को निरस्त कर दिया गया है। पर इसके बावजूद आंदोलन के मूल नियमहमैं वंचनापूर्ण व्यवहार नहीं करूंगा की शाश्वता में कोई परिवर्तन नहीं किया गया है। अतः ज्यों-ज्यों बुराइयों का व्यावहारिक रूप बदलता है, त्यों-त्यों अणुव्रत-आंदोलन की आचार-संहिता में भी अपेक्षित परिवर्तन होता रहता है। बावजूद इसके, शाश्वत रूप ज्यों-का-त्यों रहता है। भविष्य में भी शाश्वत रूप बदलेगा नहीं। इससे यह बिलकुल स्पष्ट है कि अणुव्रत-आंदोलन शाश्वत है।

अणुव्रत आध्यात्मिक आंदोलन है

यदि अणुव्रत-आंदोलन के मौलिक स्वरूप पर ध्यान दिया जाए तो यह तथ्य सामने आएगा कि यह एक आध्यात्मिक आंदोलन है, धार्मिक आंदोलन है। ऐसा भी कहा जा सकता है कि अणुव्रत जीवन-धर्म है। धर्म को अस्वीकार करने का अर्थ है जीवन को अस्वीकार करना। जो अनात्मवादी हैं, वे आत्मा, परमात्मा, मुक्ति आदि को मानने से इनकार हो सकता है, पर अध्यात्म एवं धर्म से मिलनेवाली शांति, नवजीवन-शक्ति एवं पवित्रता से नहीं। पर बड़ी कठिनाई यह है कि कृत्रिमता का आज इतना प्रभाव है कि धर्म जैसा सहज और स्वाभाविक तत्त्व भी असहज और अनावश्यक प्रतीत होता है। अणुव्रत-आंदोलन इस बात के लिए सलक्ष्य प्रयत्नशील है कि कृत्रिमता का प्रभाव समाप्त हो तथा सहज जीवन-धर्म का पुनः प्रतिष्ठापन हो।

अणुव्रत-आंदोलन के संदर्भ में मैंने कुछ बातें आपसे कहीं। मैं चाहता हूँ, आप इन पर गंभीरता से चिंतन करें और इसके दर्शन एवं उद्देश्य से परिचित हों। यह परिचय आपको स्वस्थ समाज के प्रारूप को समझने में अत्यंत उपयोगी सिद्ध होगा। आप स्वस्थ समाज के निर्माण में अपनी सक्रिय भूमिका अदा कर सकेंगे।

राजसमंद

११ सितंबर १९६०

२७. जरूरी है दृष्टि-दोष का मिटना*

दृष्टि-दोष : विविध रूप

संसार की सारी स्थितियों के अध्ययन एवं विश्लेषण के बाद मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूँ कि कोरा ज्ञान भयावह है, अहितकर है। इसी प्रकार कोरा भौतिक विकास प्रलय है और नियंत्रणहीन गति खतरा है। विशुद्ध जीवन की धुरी है दृष्टि। यदि दृष्टि शुद्ध होती है तो ज्ञान शुद्ध होता है, चरित्र शुद्ध होता है। इसके ठीक विपरीत यदि दृष्टि विकृत है तो ज्ञान भी विकृत हो जाता है, चरित्र भी विकृत बन जाता है। मैं अनुभव कर रहा हूँ कि आज का आदमी दृष्टि-दोष से बुरी तरह ग्रस्त है। अपने-आपको सुसभ्य माननेवाले गोरे आदमी काले आदमियों को जिस घृणा की दृष्टि से देखते हैं, वह क्या दृष्टि-दोष नहीं है? किसी के भी प्रति घृणा करनेवाला व्यक्ति क्या सभी के प्रति घृणा नहीं करता? घृणा का जो संस्कार बन जाता है, वह क्या सीमित रह पाता है? यही तो दृष्टि-दोष है कि व्यक्ति घृणा के भाव का प्रारंभ किसी दूसरे से करता है और वह चलते-चलते अपनों तक और उससे भी आगे बढ़ता हुआ अपने तक पहुंच जाता है।

अपने को उच्च माननेवाले दूसरों को नीचा मानकर उनसे घृणा करते हैं, क्या यह दृष्टि-दोष नहीं है? इस घृणा के भाव के परिणामस्वरूप बननेवाली सामाजिक विघटन की स्थिति से क्या वे अपने-आपको बचा सकेंगे? मैं नहीं समझता, आदमी आदमी से घृणा करें, इससे बढ़कर और क्या अमनुष्यता होगी।

भाषा, प्रांत, राष्ट्र, जाति, संप्रदाय आदि का व्यामोह दृष्टि-दोष नहीं है तो और क्या है? मैं देख रहा हूँ कि संसार के सुसभ्य कहलानेवाले राष्ट्र आज अणु-अस्त्रों के निर्माण की होड़ में लगे हैं। पर वे

*अणुब्रत आंदोलन के ग्यारहवें अधिवेशन में प्रदत्त प्रवचन

इस बात को नहीं सोच रहे हैं कि जब सुंद और उपसुंद परस्पर भिड़ेंगे तो बचेगा कौन, जिसके लिए वे लड़ते हैं, उसे भोगेगा कौन। इस बिंदु पर जब दृष्टि नहीं जाती, क्या यह दृष्टि-दोष नहीं है? छुट-पुट दृष्टि-दोष कितने हैं, कौन जाने? पर घृणा, संकीर्ण मनोवृत्ति और पारस्परिक अविश्वासहृये बड़े भयावने दृष्टि-दोष हैं। इनके दूर हुए बिना ज्ञान और चरित्र दोनों ही पवित्र नहीं बनेंगे। अणुव्रत-आंदोलन का ध्येय यही है कि दृष्टि-दोष मिटे, समभाव का विकास हो, मानव मानव को निकटता से देखे अर्थ, जाति, वर्ण, वर्ग, भाषा, प्रांत, संप्रदाय आदि के भेद बीच में न आए। विचारों की इस पृष्ठभूमि पर पहुंचकर ही अणुव्रत-आंदोलन की आत्मा को पकड़ा जा सकता है।

अणुव्रत-आंदोलन कठिन है?

कुछ लोग अणुव्रत-दर्शन को समझते हैं, उसे अच्छा भी मानते हैं, पर उसकी आचार-संहिता को स्वीकार करने में कठिनाई का अनुभव करते हैं। मैं भी मानता हूं कि एक अपेक्षा से अणुव्रत-आंदोलन कठिन है। और यह मात्र एक अणुव्रत-आंदोलन की बात नहीं है, अपितु व्रतों के किसी भी आंदोलन के लिए यह बात लागू होती है। पर साथ ही मैं यह भी मानता हूं कि व्रतों के स्वीकार किए बिना समस्याओं का पार नहीं पाया जा सकता। इसलिए कठिनाई से घबराने की जरूरत नहीं है। जरूरत है संकल्प-चेतना को जगाने की। जब व्यक्ति की यह चेतना जाग जाती है, तब व्रतों के स्वीकरण करने एवं उनका सम्यक रूप से पालन करने में उसे एक नई स्फुरण और शक्ति का अनुभव होता है। और उसके फलस्वरूप व्रतों की पालना के बीच आनेवाली कठिनाइयां उसे पराभूत नहीं कर पातीं।

अर्थ से ज्यादा जरूरी है प्रेम और मैत्री

मैं अनुभव कर रहा हूं कि आज के आम आदमी का दृष्टिकोण प्रेम, उदारता, विश्वास आदि से उतना नहीं जुड़ा हुआ है, जितना आर्थिक सिद्धांत से चिपटा हुआ है। हालांकि यह स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं कि अर्थ सामाजिक प्राणी की एक प्राथमिक अपेक्षा है। पर इसका अर्थ यह नहीं कि व्यक्ति प्रेम, उदारता, अभय, विश्वास, मैत्री, शांति आदि को गौण समझे। गहराई से देखा जाए तो प्रेम, उदारता, अभय, मैत्री आदि अर्थ से भी ज्यादा आवश्यक हैं।

विचार और आचार की दूरी मिटे

अणुव्रत-आंदोलन के विचार-प्रसार के लिए मैंने लंबी-लंबी अनेक यात्राएं की हैं, जनता ने आंदोलन की भावना और दर्शन को समझा है, परंतु विचार और आचार की जो दूरी है, वह आज भी बनी हुई है। यह दूरी अधिक-से-अधिक मिटे और व्यक्ति-व्यक्ति अपने आचरण को अणुव्रत-भावना के अनुरूप ढालने का प्रयास करे, यह नितांत अपेक्षित है।

अणुव्रत-आंदोलन तब तक आवश्यक है

कुछ लोग अणुव्रत-आंदोलन की आवश्यकता पर प्रश्नचिह्न लगाते हैं। उनका तर्क यह है कि जब इतने वर्षों में भी इस आंदोलन के माध्यम से समाज में विशेष बदलाव नहीं आया, फिर भविष्य में इसकी आशा कैसे की जा सकती है। पर मैं इस तर्क से सहमत नहीं हूँ। मेरी सोच यह है कि अणुव्रत-आंदोलन या दूसरे शब्दों में व्रतों का आंदोलन आज भी आवश्यक है, और तब तक आवश्यक है, जब तक व्यक्ति उपशांतमोह नहीं बन जाता, उसमें स्वानुशासन का भाव जाग्रत नहीं हो जाता।

व्यवहार की सचाई कैसे आए?

पिछले दो वर्षों में हमने विशेष रूप से मिलावट-निषेध, रिश्वत-निषेध और मद्य-निषेध-इस त्रिसूत्री अभियान को चलाया। इसके परिणामस्वरूप हजारों-हजारों लोगों ने मद्यपान न करने का प्रतिज्ञा की। इस अनुपात में मिलावट न करने और रिश्वत न लेने की प्रतिज्ञाएं कम हुईं। इस संदर्भ में व्यापारी और राजकर्मचारी अपनी कठिनाइयां प्रस्तुत करते हैं, तब एक बार तो ऐसा लगता है कि ये मिलावट न करें, रिश्वत न लें तो इनकी गृहस्थी कैसे चले। किंतु थोड़ी गहराई में जाकर चिंतन करने पर यह स्पष्ट दिखाई पड़ता है कि एक समस्या को निपटाने के लिए ये अप्रामाणिक और अनैतिक बनते हैं और अपने लिए उससे बड़ी अनेक समस्याओं की सृष्टि कर लेते हैं। मैं सोचता हूँ, यदि लोगों का दृष्टि-दोष मिट जाए यानी उनकी दृष्टि सम्यक बन जाए तो व्यवहार की सचाई यानी प्रामाणिकता को फलित होने में अधिक समय नहीं लग सकता।

अणुव्रत-आंदोलन का स्वरूप

मैं देखता हूँ कि भारतीय लोग धर्म और दर्शन की गहरी चर्चाएं करते हैं। पर बहुत समझने की बात यह है कि धर्म का पहला सोपान है व्यावहारिक सचाई अर्थात् प्रामाणिकता। आप ही बताएं, जब व्यक्ति के

जीवन में वह नहीं आती, तब धर्म कैसे आएगा? कहां से आएगा? अणुव्रत-आंदोलन का स्वरूप जितना धार्मिक है, उतना ही व्यावहारिक भी है। व्यक्ति को इस सचाई का अनुभव करना चाहिए कि एक धर्माचरण का असर व्यक्तिपरक होता है और एक धर्माचरण का असर जितना व्यक्तिपरक होता है, उतना ही समाजपरक होता है। इसका फलितार्थ यह है कि अप्रामाणिकता और अनैतिकता का त्याग करने का असर व्यक्ति पर भी होता है और समाज पर भी। इस अपेक्षा से मैंने कहा कि अणुव्रत-आंदोलन का स्वरूप जितना धार्मिक है, उतना व्यावहारिक भी।

धर्म किसलिए?

भारत धर्मप्रधान देश कहलाता है। पर यह एक कटु यथार्थ है कि व्यावहारिक सचाई के क्षेत्र में वह दूसरे-दूसरे अनेक देशों से पिछड़ा हुआ है। मैं देखता हूँ कि भारतीय लोग विदेश-यात्रा करके लौटते हैं और बहुधा उन राष्ट्रों की प्रामाणिकता की प्रशंसा करते हैं, जिन्हें भारतवासी भौतिकवादी राष्ट्र मानते हैं। इसके विपरीत भारत की यात्रा पर आने वाले विदेशी लोगों को यहां की ऊंची दार्शनिकता के प्रकाश में प्रामाणिकता और नैतिकता का अभाव खटकता है। इस स्थिति के विश्लेषण से मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूँ कि यहां के अधिकतर लोगों की धारणा यह है कि धर्म परलोक सुधारने के लिए है। वर्तमान जीवन की शुद्धि के साथ वे इसे नहीं जोड़ते। मेरी दृष्टि में यह अवधारणा भयंकर भूलभरी है। मैं समझ नहीं पा रहा हूँ कि वर्तमान जीवन शुद्ध नहीं हुआ तो अगला जन्म शुद्ध कैसे होगा। मैं सभी धर्म-प्रमुखों, धर्म-पंडितों एवं धर्म-प्रचारकों से कहना चाहता हूँ कि वे उपासना की अपेक्षा जीवन की शुद्धि को प्राथमिकता दें। निश्चित ही धर्म-संप्रदायों, धर्म-संस्थानों के लिए यह बहुत श्रेयस्कर होगा। इससे धर्म में एक नया निखार आएगा, उसका माहात्म्य बढ़ेगा।

जाग्रत अणुव्रती बनें

जो लोग अणुव्रती बने हैं, वे साधुवाद के पात्र हैं। पर एक बात की ओर ध्यान देने की अपेक्षा है। अणुव्रतियों के जीवन-यापन की पद्धति अणुव्रत-भावना के अनुरूप बनी हो, ऐसा पर्याप्त मात्रा में नहीं हुआ है। अणुव्रती लोग इस बिंदु पर गंभीरता से सोचें और जाग्रत अणुव्रती बनें। अणुव्रत-आंदोलन की आचार-संहिता को स्वीकार करने से उनके जीवन में क्या परिवर्तन आया और आंदोलन को क्या बल मिला, इस बात पर वे

गंभीरता से ध्यान दें और सही अर्थ में अणुव्रती बनने में जो कठिनाइयां हैं, उनके निवारण का प्रयत्न करें।

अणुव्रत-आंदोलन के प्रचार-प्रसार का दायित्व

अणुव्रत-आंदोलन के व्यापक प्रचार-प्रसार की दृष्टि से एक बात की ओर अणुव्रतियों का ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ। अब तक इसके प्रचार-प्रसार का कार्य बहुलांश में साधु-साध्वियों के आधार पर हुआ है या यों भी कहा जा सकता है कि बहुलांशतः वह उन पर छोड़ा हुआ है। अब इस क्रम को परिवर्तित करना चाहिए। इसके प्रचार-प्रसार का मुख्य दायित्व उन्हें स्वयं अपने पर लेना चाहिए। पर यह संभव तभी है, जब इस बात के लिए ये संकल्पित होंगे। संकल्प की शक्ति अद्भुत होती है!

एकत्व की अनुभूति करें

अंत में एक बात कहकर अपनी बात संपन्न करना चाहता हूँ, जो कि अणुव्रत-आंदोलन के संगठन की दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। अणुव्रती भिन्न-भिन्न जाति और संप्रदाय की संबद्धता उनकी इस एकत्वानुभूति में किंचित भी बाधक न बने। परस्पर में एकत्व का अनुभव करें। इससे आंदोलन को तो शक्ति मिलेगी ही, वे स्वयं में भी एक नई स्फुरणा का अनुभव करेंगे।

राजसमंद

१ अक्टूबर १९६०

२८. व्रत जीवन-शुद्धि के लिए हैं

प्रतिवर्ष की भांति आज भी अणुव्रती भाई-बहिनों ने व्रतों को दोहराया है। यह मात्र कोई रूढ़ परंपरा नहीं है, अपितु इसका बड़ा लाभ है। इससे अणुव्रतियों में अपने स्वीकृति व्रतों के प्रति जागरूकता आती है तथा उनकी पुष्टि होती है। इस संदर्भ में एक बात सभी को बहुत गहराई से समझने की है। अणुव्रत के व्रत दबाव से दिए नहीं जाते, अपितु उन्हें स्वेच्छा से स्वीकार किया जाता है। वैसे, ग्रहण करने को तो दबाव से भी व्रत ग्रहण किए जाते हैं, पर जहां-कहीं ऐसा होता है, वहां व्रतों में तेज नहीं आ सकता। अंतर्मन से स्वीकार किए गए व्रतों से ही आत्मबल और आत्म-साहस जाग्रत होता है। यह अत्यंत प्रसन्नता एवं आह्लाद का विषय है कि अणुव्रतियों में आत्म-साहस एवं नैतिक निष्ठा के प्रत्यक्ष दर्शन हो रहे हैं।

मैं देख रहा हूँ, आज संसार का वातावरण स्वस्थ नहीं है। यह अस्वस्थ वातावरण कमजोर मनोबलवाले व्यक्तियों को नैतिकता से विचलित कर देनेवाला है। प्रतिकूल वातावरण में भी नैतिकता और प्रामाणिकता का जीवन जीना व्यक्ति की दृढ़ता और आत्म-साहस का परिचायक है। चूंकि अणुव्रतियों का आत्म-साहस जाग्रत है, इसलिए मेरा विश्वास है कि वे किसी भी प्रतिकूल परिस्थिति में अपना संतुलन नहीं खोएंगे। मैं अणुव्रतियों को प्रेरणा के रूप में कहना चाहता हूँ कि उनके सामने भले किसी भी विकट स्थिति क्यों न आए, वे प्रतिक्षण अपने संकल्प को याद रखें। उनका संकल्प है **अहम्भुद्धिओमि आराहणाएहमै** जीवन-विशुद्धि की आराधना के लिए उपस्थित हूँ। **उद्धि नो पमायएहइसे** याद करके वे अपनी आराधना में सजग रहें, प्रमाद न करें। **इयाणि नो जमहं पुव्वमकासी पमाणंहअब** मैं पूर्व में प्रमादवश किए गए अकृत्यों की पुनरावृत्ति नहीं करूंगाहइस सूत्र की स्मृति उन्हें भविष्य में भूल का दोहराने

*अणुव्रत-आंदोलन के ग्यारहवें अधिवेशन में प्रदत्त दीक्षांत भाषण

से रोकेगी। 'मैंने व्रत यश-प्रतिष्ठा के लिए नहीं, अपितु जीवन-शुद्धि के लिए ग्रहण किए हैं तथा आत्म-शांति प्राप्त करना ही मेरा लक्ष्य है' इस मंगल भाव के साथ अणुव्रती आगे बढ़ें और जन-जीवन को नैतिक प्रेरणा देकर उसकी नैतिक निष्ठा जाग्रत करें।

राजसमंद

३ अक्टूबर १९६०

२९. जीवन-शुद्धि : धर्म का मूल लक्ष्य

जिस प्रवृत्ति के पीछे चिंतन न होकर केवल परंपरा-निर्वाह की भावना रहे, वह प्रवृत्ति रूढ़ बन जाती है। और मात्र रूढ़ि-निर्वाह का परिणाम होता है गतिहीनता, जड़ता। जीवन-विकास का उपक्रम भी जब रूढ़ि का रूप धारण कर लेता है तो कभी-कभी वही जीवन-विनाश का हेतु भी बन जाता है। मैं धर्म को केवल रूढ़ रूप में देखना नहीं चाहता। दिन-भर उपासना के बाह्य क्रिया-कल्प में निमग्न रहनेवाले यदि व्यापार-व्यवसाय में दूसरों को धोखा दें, कलह, चुगली, निंदा, ईर्ष्या, क्रोध आदि की भट्टी में जलते रहें तो उस कोरी उपासना से जीवन-सुधार की क्या आशा की जा सकती है? आचार की अपेक्षा करके केवल विवेकशून्य उपासना उपासक का विषय बन जाती है, जबकि धर्म का मूल लक्ष्य है जीवन-शुद्धि वहां अछूता रह जाता है। उपासना की प्रधानता और आचार की अपेक्षाकृत गौणता है यह विषमता जीवन को लक्ष्यहीन बना देती है। यह स्थिति किसी भी स्थिति में अच्छी नहीं है। इससे बचने के लिए उपासना और आचार की समता हो, यह अनिवार्य अपेक्षा है। इस अपेक्षा की पूर्ति हुए बिना जीवन-विशुद्धि की बात फलित नहीं हो सकती।

मैं जानता हूँ कि बहुत-से व्यक्ति अप्रामाणिक एवं अनैतिक आचरण करना नहीं चाहते। किंतु विवाह आदि के प्रसंग पर चलनेवाली बोझिल एवं रूढ़ परंपराओं को निभाने के लिए अप्रामाणिक बनते हैं। जब तक उन परंपराओं में परिवर्तन नहीं होता, तब तक अणुव्रती बनने में भी लोग कठिनाई का अनुभव करते हैं। हालांकि चालू परंपराओं में परिवर्तन करना एक कठिन कार्य है, तथापि इतना बहुत स्पष्ट है कि इसके होने से बहुत-सी कठिनाइयां सहज ही समाप्त हो जाती हैं। इसलिए *तेरापंथ द्विशताब्दी* के अवसर पर यह अत्यंत आवश्यक समझा गया कि समाज एक नई करवट ले। यथेष्ट चिंतन के बाद जीवन को हलका बनाने के लिए मैंने समाज के समक्ष *नया मोड़* का प्रारूप प्रस्तुत किया।

विनय और लज्जा पर्दे में या संस्कारों में?

यद्यपि नया मोड़ का प्राय लोगों ने स्वागत किया है, तथापि कुछ लोगों द्वारा प्रतिक्रियाएं भी हुई हैं। जैसे विरोध इसके सभी नियमों का नहीं है, मात्र पर्दा न करने और शोकस्वरूप काले वस्त्र न पहनने का है। पर्दे के विषय में मेरे विचार बहुत स्पष्ट हैं। देखना कोई बुराई नहीं है, बुरे तो मानसिक परिणाम हैं। आप जानते हैं, सर्वज्ञ सबको देखते हैं। उनके देखने में कोई भी व्यक्ति बुराई की कल्पना कैसे कर सकता है? जैसे भी चक्षु आदि सभी इंद्रियां क्षयोपशम भाव हैं, इसलिए उनका उपलब्ध होना निरवद्य है। और यह एक अकाट्य सिद्धांत है कि निरवद्य का परिणाम हर स्थिति में निरवद्य ही होता है। वह कभी भी सावद्य नहीं हो सकता। देखना चक्षु इंद्रिय की प्रवृत्ति है। उसे बुरा नहीं कहा जा सकता, बशर्ते उसके साथ विकार नहीं जुड़ता, जो कि मोहोदय का परिणाम है।

कुछ लोग यह दलील भी देते हैं कि अनुशासनहीनता के इस वर्तमान युग में यदि पर्दा रखने की परंपरा समाप्त कर दी जाती है तो वे भी समाप्त हो जाएंगे। ऐसा कहने और सोचनेवालों से पूछना चाहता हूं, विनय और लज्जा के भाव पर्दे में होते हैं या संस्कारों में? जिन क्षेत्रों की महिलाएं पर्दा नहीं करतीं, क्या उनमें विनय और लज्जा के भाव नहीं हैं? गुजरात में महिलाएं पर्दा नहीं करतीं। पर मुझे तो वहां की महिलाओं में यहां (राजस्थान) की महिलाओं की तुलना में विनय और लज्जाशीलता अधिक प्रतीत होती है। हमारी साध्वियों का उदाहरण आपके सामने है। वे पर्दा कहां करती हैं? बावजूद इसके, वे कितनी विनयसंपन्न और लज्जाशील हैं! फिर एक बात और है। किया पर्दा करनेवाली महिलाएं अविनीत एवं लज्जाहीन नहीं होतीं? अतः यह स्पष्ट है कि विनय और लज्जा के भाव पर्दे के होने या न होने की अपेक्षा नहीं रखते। वहां अपेक्षा है सत्संस्कारों की। यदि किसी को विनय और लज्जा के भावों में विशेष वृद्धि करनी है तो वह उनके पवित्र संस्कारों को जगाए।

आप देख रहे हैं कि आज समाज की महिलाएं अशिक्षा, स्वत्वहीनता और कृत्रिम लज्जा की गिरफ्त में हैं। इस स्थिति के निर्माण में बहुत बड़ा हाथ पर्दा-प्रथा का है। अपने हित और अहित को समझने का ज्ञान न होना अशिक्षा है। अन्याय और अत्याचार को आंखें मूंदकर सहते रहना, उसका उचित प्रतिकार न करना स्वत्वहीनता है। अपने श्वसुर, सास, पति

आदि को संकट की बेला या अंतिम बेला में धार्मिक प्रेरणा भी न दे सकना कृत्रिम लज्जा है।

इस प्रकार पर्दा एक सामाजिक कुप्रथा होने के साथ-साथ जीवन-विकास में भी बाधक है। अतः इसका प्रतिकार करना अत्यंत आवश्यक है।

क्या काले वस्त्र पहनना पाप है?

काले वस्त्र पहनना पाप और श्वेत वस्त्र पहनना धर्मह्वइस अवधारणा में कोई तत्त्व की बात नहीं है। चूंकि कपड़े तो पदार्थ हैं, अतः वे अपने-आपमें न तो धर्म हैं और न अधर्म ही। धर्म और अधर्म की उत्पत्ति भावना से होती है, आत्मा से होती है। मेरा चिंतन है कि विधवाओं को काले वस्त्र पहनाना इसलिए बुरा नहीं है कि वे काले हैं, अपितु इसलिए बुरा है कि उसके पीछे घृणा, तिरस्कार और अपमान के भाव हैं।

एक दिन एक वृद्ध महिला ने गद्गद होते हुए कृतज्ञता के स्वर में अपनी दर्दभरी कहानी सुनाई। उसने कहाह्वकर्मयोग से मैं छोटी अवस्था में ही विधवा हो गई। उस समय एक दिन रात्रि के काले भयावह अंधेरे में मुझे घर से बाहर ले जाया गया और मेरी इच्छा के प्रतिकूल असहाय अवस्था में काले वस्त्र पहना दिए गए और पुनः घर लाकर एक कोने में बिठा दिया गया। मेरे बच्चे 'मां! मां!' पुकारते हुए रोने लगे। इसके बावजूद अनिष्ट की आशंका से उन्हें मेरे पास नहीं आने दिया गया। उस समय मेरा मुंह देखना भी अशुभ माना जाने लगा। मैं इस दुःख-दर्द-भरे दृश्य को मैं मन-ही-मन मसोसे बैठी, सब-कुछ देखती रही। गुरुदेव! यह दृश्य आज भी जब मेरे सामने आता है तो मेरा हृदय कांपने लगता है। महाराज! आप देखें, इस प्रकार नारी-जाति पर कितना अन्यान्य होता है।'

बंधुओ! इस तिरस्कारपूर्ण घटना को सुनते ही रह गया। फिर यह एक ही घटना नहीं, अपितु इस प्रकार की तिरस्कार-भरी अनेक घटनाएं मेरे सामने आ चुकी हैं। क्या समाज अब भी इस रूढ़ परंपरा को बदलने का प्रयत्न नहीं करेगा? क्या मेरा यह दायित्व और कर्तव्य नहीं हो जाता कि मैं इस प्रकार की तिरस्कारपूर्ण परंपराओं से समाज को अवगत करवाकर उसे इन्हें छोड़ने के लिए प्रेरित न करूं? इस क्षेत्र में नया मोड़ लेने का आह्वान न करूं? महिला-समाज को आध्यात्मिक विकास का मार्ग न बतलाऊं? अलबत्ता, हम संयमी हैं, इसलिए प्रेरणा, आह्वान और उपदेश की हमारी भाषा संयत होगी। असंयत भाषा का प्रयोग हम नहीं

कर सकते।

अंत में सार-संक्षेप के रूप में मैं यह कहना चाहता हूँ कि परंपराओं के संदर्भ में समाज अपने दृष्टिकोण को सम्यक बनाए। जो परंपराएं समय के साथ अपना अर्थ खो चुकी हैं, जिन्हें मात्र रूढ़ि के रूप में निभाया जाता है, उनका व्यर्थ का भार ढोते रहना कोई समझदारी की बात नहीं है। जो परंपराएं जीवन-विकास में बाधक हैं, जिनसे जीवन भारी बनता है, उनको चिंतनपूर्वक बंद कर देना ही विवेक का तकाजा है। इस दृष्टि से नया मोड़ का अभियान शुरू किया गया है। समाज में इसकी प्रतिष्ठा करके ही जीवन को सादा, संयमी और सात्त्विक बनाया जा सकता है।

राजसमंद

३ अक्टूबर १९६०

३०. आनंद का मूल स्रोत

आनंद आत्मीय तत्त्व है

आनंद जन-जन का काम्य तत्त्व है। पर बावजूद इसके, इसकी प्राप्ति सबको नहीं होती। इसका क्या कारण है? कारण स्पष्ट ही है। आनंद एक आत्मीय तत्त्व है। व्यक्ति स्वयं उसका केंद्र है, खजाना है। पर अज्ञानी प्राणी उसे आत्मा में नहीं, अपितु भौतिक पदार्थों में खोजने की भूल करता है, स्वयं में खोजने की जगह बाह्य जगत में ढूंढने की नादानी करता है। फिर उसे आनंद कैसे मिले? जो इसके मूल स्रोत तक पहुंच जाता है, उसे निश्चित रूप से आनंद की अनुभूति होती है।

आनंद का मार्ग

प्रश्न कि इसके मूल स्रोत तक पहुंचाने का मार्ग कौन-सा है? मार्ग है संयम। और यह आनंद की प्राप्ति का एकमात्र मार्ग है। इसका कोई विकल्प नहीं है। साधु-संत संयम के साधक होते हैं, संयमी होते हैं, इसलिए वे सहज आनंद की अनुभूति करते हैं। और अपनी इस आत्मानुभूति के आधार पर जन-जन के लिए पथ-दर्शक के रूप में निमित्त बनते हैं। यही कारण है कि संत-दर्शन या संत-समागम से व्यक्ति आनंद की अनुभूति करते हैं। पर यह भी अपने-आपमें सत्य है कि वह आनंद स्वयं के आनंद के अभाव में स्थायी नहीं हो सकता।

संयम का मूल्य

मेरी दृष्टि में एक अपेक्षा से संयम अध्यात्म या धर्म का सारभूत तत्त्व है, जीवन का सर्वोच्च मूल्य है। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है

जो सहस्सं सहस्साणं, मासे-मासे गवं दए।

तस्सा वि संजमो सेओ, अहिं तस्स वि किंचणं ॥

संयम के माहात्म्य को उजागर करनेवाली यह एक महत्त्वपूर्ण गाथा है। आप देखें, दो व्यक्ति हैं। एक व्यक्ति प्रति मास दस लाख गौओं का

दान करता है। दूसरा व्यक्ति कुछ भी दान नहीं करता, पर संयमी है। अब दोनों में श्रेष्ठता का प्रश्न है। भगवान महावीर कहते हैं कि दोनों में संयमी गौओं का दान देनेवाले की अपेक्षा श्रेष्ठ है। भगवान के इस कथन से आप संयम का यथार्थ मूल्यांकन कर सकते हैं। मूल्यांकन जब यथार्थ होगा, तभी उसकी जीवन में सही प्रतिष्ठा कर सकेंगे।

आप जानते हैं कि आज राकेट का युग है। विज्ञान आए दिन नए-नए आविष्कार कर रहा है। भौतिक अभ्युन्नति बहुत हुई है, हो रही है। पर इसके समानांतर यह भी एक कट्टे यथार्थ है कि जन-जीवन में संयम की कमी आई है। आदमी ने वायुयान में उड़ना सीखा है, पर नैतिक जीवन के धरातल पर चलना नहीं सीखा। उसने चंद्रलोक की यात्रा की है, किंतु वह अपने आत्म-तपोवन में विहरण करना भूल गया। मछली की तरह जल में तैरने का प्रशिक्षण उसने लिया, पर जीवन-नौका में बैठकर संसार-सागर को तरने का नहीं। सिंह, बाघ आदि हिंसक पशुओं को उसने अपने नियंत्रण में लिया, पर स्वयं की इंद्रियों और मन को नहीं।

संयम का आंदोलन

अणुव्रत-आंदोलन मानव को संयम का मार्ग दिखाता है। वह व्यापारी, राजकर्मचारी, अध्यापक, छात्र, मजदूर, पुरुष, महिला..... सभी वर्गों के लोगों को आत्म-मर्यादित, संयमित जीवन जीने की प्रेरणा देता है। उसका घोष है **संयमः खलु जीवनम्** संयम ही जीवन है। पर बहुत समझने की बात यह है कि यह मात्र घोष नहीं है, बल्कि जीवन का दर्शन है। तात्पर्य यह कि प्रशस्त जीवन जीने के लिए संयम की अनिवार्य अपेक्षा है।

अणुव्रत सत्ता का अधिकार नहीं देता, वह देता है **मानवता**। अणुव्रत अर्थ आने का स्रोत नहीं खोलता, वह खोलता है जीवन में नैतिकता और प्रामाणिकता आने का द्वार। अणुव्रत तोड़ना नहीं, जोड़ना सिखाता है। पर जोड़ने की बात यों ही फलित नहीं हो जाती। उसके लिए संयम की अपेक्षा है, नितांत अपेक्षा है।

आनंद अथवा आत्मानंद की उपलब्धि की बात मैंने प्रारंभ में कही थी। संयम उस उपलब्धि का एकमात्र साधन है। मनुष्य एक मननशील प्राणी है, विवेक-शक्ति से संपन्न प्राणी है। उसके मननशील और विवेक-संपन्न होने का तकाजा यही है कि वह असंयम के उत्पथ को छोड़कर

संयम के राजपथ पर आए। आनंदोपलब्धि की उसकी अभीप्सा निःसंदेह पूरी होगी। वह अपने जीवन की सार्थकता महसूस करेगा। मैंने एक गीत में कहा है

ऐ मानव ! मानव-जीवन में कुछ तो करके दिखलाओ।
अद्भुत मनन शक्ति जो तुममें, अब तो उसका लाभ उठाओ ॥
नहीं पीटने से, अंधेरा तो प्रकाश से जाएगा।
'तुलसी' संयम के द्वारा, चित्त शांत बन जाएगा।
जागो स्वयं जगाओ जग को, आओ अणुव्रत-पथ पर आओ।
ऐ मानव ! मानव-जीवन में कुछ तो करके दिखलाओ ॥

धोईधा

१६ अक्टूबर १९६०

३१. धर्म की जय

धर्म और अधर्म का उद्गम-स्थल

आज संसार में जितने तरह के उद्घोष किए जाते हैं, जितने तरह के नारे लग रहे हैं, उनमें से जिसे मैं सबसे महत्त्वपूर्ण मानता हूँ, वह है *हैह धर्म की जय*। प्रश्न है, धर्म का उद्गम-स्थल कहां है? धर्म का उद्गम-स्थल हैह प्राणी की आत्मा। यहां बहुत समझने की बात यह है कि प्राणी की आत्मा मात्र धर्म का उद्गम-स्थल नहीं है, अधर्म का उत्पत्ति-स्थान भी वही है। कोई कह सकता है कि यह कैसे संभव है? एक ही स्थान दो विरोधी तत्त्वों का उद्गम-स्थल कैसे हो सकता है? सिद्धांततः इसमें कोई कठिनाई नहीं है। मैं एक उदाहरण दूँ। जलते हुए दीपक को हम देखते हैं। उससे एक तरफ उज्ज्वल प्रकाश निकलता है तो दूसरी तरफ कृष्ण कज्जल भी उसीसे निष्पन्न होता है। ठीक इसी तरह धर्म और अधर्म, दूसरे शब्दों में सत और असत दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों का उद्गम-स्थल प्राणी की आत्मा ही है।

कैसे हो धर्म की जय-विजय ?

लोग धर्म की जय का नारा लगाते हैं, इसे मैं अनुचित तो नहीं बताता, तथापि इस संदर्भ में व्यक्ति-व्यक्ति की यह समझ बनना नितांत आवश्यक मानता हूँ कि मात्र नारा लगाने से धर्म की जय-विजय नहीं होगी। उसके लिए जीवन को नैतिकता एवं सदाचार के सांचे में ढालना होगा, उच्च विचार और प्रामाणिक व्यवहार के पथ पर बढ़ना होगा, क्योंकि धर्म के मौलिक तत्त्व ये ही हैं। ये तत्त्व जब जीवनगत बनते हैं, तभी धर्म का साकार रूप प्रकट होता है।

धर्म की विडंबना

पर आज के मनुष्य की स्थिति बड़ी विचित्र है। एक तरफ वह अधर्म का आचरण करता है, हिंसा, झूठ, चोरी, अतिसंग्रह जैसी बुराइयों में

रचा-पचा रहता है और दूसरी तरफ अधर्माचरण से उत्पन्न असंतोष को मिटाने के लिए ईश्वर की पूजा-आरती, प्रार्थना, मंदिर की फेरी, तीर्थस्नान आदि के रूप में धर्म की शरण स्वीकार करता है। इससे उसे कुछ मनःतोष का अनुभव होता है। पुनः अधर्माचरण करता है और फिर धर्म की शरण लेता है। यह असंतोष और धर्म की शरण स्वीकार करने का क्रम आगे-से-आगे चलता रहता है। अब ध्यान देने की बात यह है कि वह धर्म की शरण आत्मा की शांति और जीवन की पवित्रता के लिए नहीं, अपितु अपनी दुष्प्रवृत्तियों पर परदा डालने के लिए स्वीकार करता है। मेरी दृष्टि में यह निरी आत्मवंचना है, धर्म के साथ खिलवाड़ है। मैं नहीं समझ पा रहा हूँ कि जब जीवन दुष्प्रवृत्तियों की गंदगी से सना है, उसे पवित्र बनाने का कोई उद्देश्य नहीं, फिर धर्म टिकेगा कहाँ? भगवान महावीर ने बहुत स्पष्ट उद्घोषणा की है **धम्मो सुद्धस्स चिद्धई** धर्म पवित्र आत्मा में ठहरता है।

अपेक्षा इस बात की है कि महावीर की यह उद्घोषणा व्यापक स्तर पर जन-जन सुने, समझे और आत्मसात करे। सुनने, समझने और आत्मसात करने का तात्पर्य है वह पवित्र भाव से जीवन की पवित्रता के उद्देश्य से धर्म की आराधना करे, उसकी शरण स्वीकार करे। ऐसी स्थिति में ही वह सच्चा धार्मिक बन सकेगा और धर्म की जय का उद्घोष लगाने की वास्तविक सार्थकता प्रकट हो सकेगी।

नमाण्णा

१३ नवंबर १९६०

३२. धर्म और धर्मस्थान

धर्म को हृदय-पटल पर अंकित करें

संसार में अनेक धर्म हैं, अनेक धर्मस्थान हैं। सभी धर्मशास्त्रों में धर्म के ऊचे-ऊंचे सिद्धांतों की बातें भरी पड़ी हैं। हालांकि ग्रंथ-ग्रंथ की शब्दावलि में भेद है, वह एक सरीखी नहीं है, तथापि यह कहने में कोई कठिनाई नहीं कि धर्म के मौलिक सिद्धांतों में कोई अंतर नहीं है। मैं देखता हूँ कि लोग अपने-अपने धर्मशास्त्रों में उल्लिखित बातों को आधार बनाकर अपने-अपने धर्म को सर्वश्रेष्ठ सिद्ध करने का प्रयास करते हैं, पर उन बातों को अपने जीवन में उतारने के प्रति गंभीर नहीं हैं। अलबत्ता धर्म-ग्रंथों की वाणी को बड़े-बड़े अक्षरों में मंदिरों की दीवारों पर लिखाया जाता है, दरवाजों पर अंकित कराया जाता है। पर मैं आप से कहना चाहता हूँ, बल्कि बलपूर्वक कहना चाहता हूँ कि धर्म के फलित को प्राप्त करने के लिए उन्हें अपने-अपने हृदय-पटल पर लिखें, जीवन व्यवहार में उतारें। धर्मस्थानों में लिखाने मात्र से आत्म-शांति और जीवन की पवित्रता की उपलब्धि की अभीप्सा कभी पूरी नहीं हो सकती।

गढ़ धर्मस्थान बना

मैं देख रहा हूँ कि लोग धर्म को किसी स्थानविशेष से संबद्ध कर देते हैं। ऐसा करना मेरी दृष्टि में अनुचित है। धर्म तो शाश्वत स्वतंत्र तत्त्व है। वह मंदिर, मठ, मस्जिद, गिरजाघर, गुरु-द्वारा आदि धर्मस्थानों से आबद्ध होकर नहीं रह सकता। व्यक्ति घर, दुकान, ऑफिस, श्मशान..... जहां-कहीं अहिंसा, सत्य, प्रामाणिकता, सदाचार आदि तत्त्वों की पालना और आराधना करे, जिस-किसी स्थान में पवित्र हृदय से प्रभु के गुणों का स्मरण करे, वही उसके लिए धर्मस्थान बन जाएगा। आप देखें, कोठारिया के इस गढ़ में आज सैकड़ों-सैकड़ों लोग सत्संग कर रहे हैं, धर्मोपासना और धर्माराधना के द्वारा अपनी-अपनी आत्मा को पुनीत बना रहे हैं। अब

आप लोग ही बताएं कि यह गढ़ आज पवित्र धर्मस्थान नहीं बन गया है? बिलकुल बन गया है। कोई भी समझदार व्यक्ति इस सचाई को अस्वीकार नहीं कर सकता। इसी प्रकार कल कोई श्मशान में जाकर धर्माराधना करे तो उसके लिए श्मशान धर्मस्थान बन जाएगा। आचार्य भिक्षु ने बगड़ी में स्थानक से अभिनिष्क्रमण करने के पश्चात प्रथम पड़ाव श्मशान में ही किया था और धर्म-जागरणा की थी। उस दिन श्मशान उनके लिए धर्मस्थान बन गया। अपने जीवन में वे अनेक बार बाजार में रहे, दुकानों में प्रवास किया। उस समय बाजार और दुकानें उनके लिए धर्मस्थान बन गईं। कहने का तात्पर्य यह कि धर्माराधना व्यक्ति कहीं भी कर सकता है और जिस समय वह जिस स्थान में धर्माराधना करता है, उस समय वह स्थान उसके लिए धर्मस्थान बन जाता है।

आचार्य भिक्षु का प्रसंग

आचार्य भिक्षु का नाम अभी मैंने अभी लिया। मुझे यह बताने की कोई अपेक्षा नहीं कि वे तेरापंथ धर्मसंघ के प्रणेता थे। उनकी जीवन-गाथा अत्यंत रोमांचकारी एवं प्रेरक है। आपके इस कोठारिया गांव में उन्होंने अपना आधा चातुर्मास बिताया था। तेरापंथ के इतिहास की यह एक प्रसिद्ध घटना है। मूलतः उनका उस वर्ष का चातुर्मास नाथद्वारा में था। लगभग आधा चातुर्मास सानंद संपन्न हो गया। तभी वे विरोधी लोगों के षड्यंत्र के शिकार हो गए। वहां के अधिपति गुसाईंजी ने विरोधी लोगों के बहकावे में आकर उन्हें नगर छोड़ने का आदेश दे दिया। आदेश हो गया तो उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक नाथद्वारा से विहार कर दिया। हालांकि विरोधियों की दुर्नीति से वे अनभिज्ञ नहीं थे, तथापि उनके प्रति उन्होंने प्रतिक्रियास्वरूप कोई नाराजगी प्रकट नहीं की। यह थी उस महापुरुष की महत्ता। नाथद्वारा से चलकर वे इसी कोठारिया गांव में पहुंचे। स्थानीय लोगों ने आदरपूर्वक उन्हें स्थान दिया। और इस प्रकार शेष चातुर्मास उन्होंने यहां संपन्न किया। आचार्य भिक्षु ने प्रतिकूल और अनुकूल दोनों ही स्थितियों में अपने संतुलन को बनाए रखा और वे समता-सरिता में निमज्जन करते रहे। उनकी संतता का यह एक जीवंत उदाहरण है। वस्तुतः संत वही है, जो अनुकूल-प्रतिकूल, सुख-दुःख, लाभ-अलाभ, मान-अपमान, जीवन-मृत्यु आदि सभी प्रकार के द्वंद्वों में समान रूप से आत्म-शांति का अनुभव करता है, समाधि का जीवन जीता है हमें भी

उनके जीवन से प्रेरणा लेकर जीवन की हर अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति में समत्व में रहने का अभ्यास करना चाहिए। ऐसा करके ही हम उस महापुरुष के सच्चे अनुयायी और भक्त कहलाने के अधिकारी हो सकते हैं।

कोठारिया

१५ नवंबर १९६०

३३. करणीय क्या है ?

यह एक सामान्य बात है कि संसार का हर आदमी जीता है। क्यों जीता है? इसका सीधा-सा उत्तर है कि उसे जीवन प्राप्त है, इसलिए वह जीता है। पर यह कोई महत्वपूर्ण प्रश्न नहीं है। महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि उसके जीवन का लक्ष्य क्या है। व्यक्ति-व्यक्ति का उत्तर अलग-अलग हो सकता है। यदि कोई मुझसे पूछे तो मेरा उत्तर होगा कि जीवन में जो कुछ करणीय वह सब अहिंसा में समाहित है। इसलिए व्यक्ति यदि अहिंसा के प्रति गंभीर बन जाता है तो मानना चाहिए कि वह अपने करणीय के प्रति गंभीर बन गया है। पर अहिंसा के प्रति व्यक्ति गंभीर बने, इससे पूर्व उसके प्रति उसकी अवधारणा स्पष्ट होनी चाहिए। साधारणतया लोग अहिंसा का तात्पर्य किसी प्राणी को न सताने, न मारने से लेते हैं। मेरी दृष्टि में अहिंसा के संदर्भ में यह बहुत स्थूल बात है, सामान्य व्यवहार-दृष्टि की बात है। सूक्ष्मता में जाएं और नैश्चयिक दृष्टि से विचार करें तो वास्तविक अहिंसा तो स्वयं को सताना और मारना है। आप कहेंगे, व्यक्ति स्वयं को कैसे सता सकता है? स्वयं को कैसे मार सकता है? स्वयं को सताने और मारने की बात आप गहराई से समझें। स्वयं की असत प्रवृत्तियों से स्वयं की आत्मा का पतन करना ही स्वयं को सताना और मारना है। जो व्यक्ति दिन-भर असत्य का प्रयोग करता है, दूसरों की गलत आलोचना करता है, अप्रामाणिक व्यवहार करता है, दूसरों धोखा देता है तो कहना चाहिए कि वह अपनी दुष्प्रवृत्तियों से अपनी आत्मा को सता रहा है, अपनी आत्मा को मार रहा है। यदि व्यक्ति सलक्ष्य स्वयं को दुष्प्रवृत्तियों से बचा लेता है तो हिंसा से सहज बचाव हो जाता है, अहिंसा की साधना स्वयं फलित हो जाती है। दया और क्या है? वास्तविक दया यही तो है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने कहा है

‘तुलसी’ दया न पार की, दया आपकी होय।

तू किणने मारे नहीं, (तो) तने न मारे कोय ॥

इससे बहुत स्पष्ट है कि दया स्वयं को न सताना और न मारना ही है। इसलिए अपेक्षा इस बात की है कि व्यक्ति चिंतनपूर्वक इस बात के लिए जागरूक बन जाए कि मैं अपने-आपको नहीं गिराऊंगा, नहीं सताऊंगा, नहीं मारूंगा। यदि यह जागरूकता आ जाती है तो मानना चाहिए कि वह अपने करणीय के प्रति जागरूक बन गया है। ध्यान रहे, अपने करणीय के प्रति जागरूक बनकर जीना ही जीवन जीने की सार्थकता है।

सारोल

१७ नवंबर १९६०

३४. बड़ा आदमी कौन?

मानव एक प्रगतिशील प्राणी है। विकास की दिशा में गति करना उसका सहज स्वभाव है। हम देखते भी हैं कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी उन्नति चाहता है। अवनति कोई नहीं चाहता। पर यह एक यथार्थ है कि मात्र चाहने से उन्नति होती नहीं, अवनति रुकती नहीं। इसके लिए तो व्यक्ति को उन्नति के पथ पर कदम-कदम आगे बढ़ना होगा। पर उन्नति के पथ पर कदम बढ़ने की बात आगे की है, उससे पहले तो यह जानना जरूरी है कि उन्नति का सही मार्ग कौन-सा है, अवनति की उजाड़ में पहुंचानेवाली पगडंडी कौन-सी है। जब तक इन दोनों बातों का यथार्थपरक ज्ञान नहीं होगा, तब तक आगे बढ़ने का पुरुषार्थ ईप्सित मंजिल तक नहीं पहुंचा सकता। मैं देखता हूं, बहुत-से लोग उन्नति के मार्ग का यथार्थपरक ज्ञान किए बिना अहंपूर्विकया-अहंपूर्विकया आगे बढ़ते हैं और अवनति के उजाड़ में भटक जाते हैं। मेरी दृष्टि में अधिक धन का संग्रह करना उन्नति का मार्ग नहीं है। आर्थिक संपन्नता से आदमी बड़ा बनता है, यह एक प्रकार की मिथ्या अवधारणा है। शरीर की संपुष्टि से भी बड़प्पन का कोई संबंध नहीं है। इसके आधार पर उन्नति को नहीं मापा जा सकता। विभिन्न विध्वंसक शस्त्रास्त्र किंवा सैनिक बल से भी उन्नति नहीं हो सकती। आज यह बात बहुत स्पष्ट हो चुकी है कि मात्र जनबल, धनबल, तनबल, सैन्यबल आदि के आधार पर होनेवाला विकास वास्तविक विकास नहीं है। वास्तविक विकास के लिए संयम को आधार बनाना होगा, अहिंसा और सत्य के मार्ग को स्वीकार करना होगा, अपरिग्रह की विभिन्न स्तरों पर प्रतिष्ठा करनी होगी, समता को सर्वोच्च महत्त्व देना होगा।

इसी प्रकार व्यक्ति के बड़े होने का वास्तविक मापदंड है उसका चरित्र। जिसका चरित्र उंचा है, जिसके विचारों में पवित्रता है, व्यवहार में नैतिकता है, वह बड़ा है, भले वह किसी भी कुल में क्यों न पैदा हुआ

हो। अणुव्रत-आंदोलन जन-जन को सच्चरित्रशील बनाना चाहता है, विश्व-बंधुत्व और प्राणी-मैत्री की भावना से भावित करना चाहता है, अहिंसाप्रधान जीवनशैली के प्रति निष्ठाशील बनाना चाहता है। मेरा मानना है कि विचार और व्यवहार के धरातल पर इस सांचे में ढल जाने के बाद व्यक्ति किसी के भी साथ अनुचित व्यवहार नहीं कर सकता, किसी को भी उत्पीड़ित नहीं कर सकता, अप्रामाणिक और अनैतिक आचरण नहीं कर सकता। ऐसी स्थिति में वह अपने-आप अच्छा आदमी बन जाता है, सज्जन का खिताब प्राप्त कर लेता है, सामाजिक प्रतिष्ठा और सम्मान प्राप्त करने का सच्चा अधिकारी बन जाता है। मैं चाहता हूँ, लोग अणुव्रत-आंदोलन के दर्शन और उद्देश्य को समझें, उसकी आचार-संहिता को संकल्प के स्तर पर स्वीकार करें तथा उसका आत्मनिष्ठा के साथ पालनकर अपने जीवन को नैतिक, प्रामाणिक एवं संयममय बनाएं। इससे उनके मानव बनने की सार्थकता प्रकट हो जाएगी।

थामला

१८ नवंबर १९६०

३५. आदर्श और व्यवहार की खाई को पाटें

प्राचीन इतिहास के पृष्ठ पलटने पर यह तथ्य उभरकर सामने आता है कि उस समय परस्पर विग्रह के मुख्य तीन कारण थे—धन, धरती और सुंदरी। पर वर्तमान की स्थिति इससे भिन्न नजर आ रही है। मुझे ऐसा प्रतिभासित होता है कि आज के समय में इन तीनों से भी कहीं अधिक वाद संघर्ष के केंद्र बन गए हैं। एक ओर पूंजीवाद और साम्यवाद के बीच संघर्ष है तो दूसरी ओर राजनीतिक क्षेत्र में गांधीवाद और मार्क्सवाद दो विरोधी विचारधाराएं आमने-सामने खड़ी हैं। कुछ कमोबेशी यही स्थिति साहित्यिक क्षेत्र की है, धार्मिक क्षेत्र की भी है। मैं बड़ी तीव्रता के साथ यह अनुभव कर रहा हूँ कि वादों के इस तुमुलनाद में आज मानव अपनी मानवता को भूलता-सा चला जा रहा है, सच्ची धार्मिकता को विस्मृत-सा करता चला जा रहा है। इसकी यह परिणति है कि वह दुरंगा हो गया है। द्विरूपी जिंदगी वह जी रहा है। एक रूप उसके आदर्शों का है और दूसरा रूप यथार्थ का। उसके सिद्धांतों और व्यवहार में गहरी विषमता है। मंदिर, मस्जिद, गिर्जाघर, गुरुद्वारा आदि धर्मस्थानों में वह भक्त प्रह्लाद, मीरां, मुहम्मद साहब, ईसामसीह, गुरु नानक आदि के समान परम धार्मिक बन जाता है और बाहर आकर वही हिरण्यकश्यप, सूर्पणखा और रावण की तरह क्रूर व्यवहार करने लगता है। मैंने एक गीत में लिखा है—

अरे धार्मिको! किस प्रवाह में अब भी बहते जाते हो?

सत्य धर्म की सही शान को खोते या रख पाते हो?

- **मंदिर में जा भक्त बने प्रह्लाद भक्त से भी बढ़कर।
हिरणांकुश से क्रूर कर्मकारी बन जाते घर आकर।
तो होगा यह प्रभु से धोखा, केवल मन बहलाते हो ॥**
- **कीर्तन सत्संगत में मीरां सूर तुल्य रस लेते हो।**

पर आचरणों में तो सूर्यणखा का परिचय देते हो।

सत्संगत में जो पाते, क्या वहीं छोड़कर आते हो।

● मस्जिद में जाते नमाज की रखते पूरी पाबंदी।

लेकिन यदि नापाक रहा दिल और वृत्तियां भी गंदी।

तो बोलो! तुम हुक्म खुदा का अदा कहां कर पाते हो?

आप देखें, एक तरफ लोग गिर्जाघरों में जाकर शांति की प्रार्थना करते हैं और दूसरी तरफ वे ही विध्वंसक अणुशस्त्रों का निर्माण करते हैं, नर-संहार की योजना बनाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि आदर्श और व्यवहार की इस विषमता के रोग से कोई-कोई व्यक्ति ही बच पाया है। यह स्थिति विश्व के लिए कभी भी दुर्घटना का रूप ले सकती है। स्थिति की गंभीरता को देखते हुए इस ओर तत्काल ध्यान देना अपेक्षित है, अन्यथा विनाश अवश्यभावी है। उसे कैसे टाला जा सकता है?

अणुव्रत का अपनाएं

अणुव्रत-आंदोलन एक शुद्धिपरक एवं निर्माणकारी आंदोलन है। इस आंदोलन की यह सबसे बड़ी विशेषता है कि यह आदर्श और व्यवहार को वैषम्य की इस खाई को पाटने का कार्य कर रहा है। यह धर्म के बाह्य क्रिया-कलापों अथवा उपासना को गौण करके जीवन-विशुद्धि की बात कहता है। यह आदर्शों की ऊंची-ऊंची बातें न करके यथार्थ और व्यवहार के छोटे-छोटे नियमों को अपनाने की बात कहता है। पर इस संदर्भ में एक बात बहुत गौर करने की है। छोटे-छोटे होने के बावजूद ये नियम बहुत असरकारक हैं। इनको स्वीकार करनेवाले व्यक्ति के जीवन में आदर्श और व्यवहार में सामंजस्य की स्थिति सहज रूप में निर्मित हो जाती है। इस परिप्रेक्ष्य में अणुव्रत-आंदोलन का, इसके छोटे-छोटे नियमों का मूल्यांकन करें। मैं मानता हूँ, यदि विश्व को विनाश के मुंह में जाने से बचाना है तो जन-जन को अणुव्रत के नियमों को अपनाना ही होगा।

मावली स्टेशन

२५ नवंबर १९६०

३६. धर्म और जीवन का संबंध अनिवार्य

धर्म जीवन का एक अनिवार्य तत्त्व है। इसके अभाव में जीवन स्वस्थ नहीं रह सकता, आदमी अच्छा जीवन नहीं जी सकता। दुर्भाग्य से आज कुछ ऐसी-सी ही स्थिति बन रही है। जन-जीवन से धर्म को अलग-थलग-सा कर दिया गया है। उसी का यह दुष्परिणाम है कि भ्रष्टाचार, अत्याचार, अन्याय, शोषण, उत्पीड़न जैसे तत्त्व जीवन पर प्रभावी बन गए हैं। वह दुर्व्यसनों एवं बुराइयों का अड्डा-सा बना गया है। आज संसार में जितनी प्रकार की समस्याएं हैं, उनमें से अधिकतर मानव-जीवन से धर्म के विसंबंध की परिणति हैं। यदि यह संबंध पुनः जुड़ जाए तो वे स्वयं किनारा ले लेंगी। इसलिए मैं पुनः-पुनः कहना चाहता हूँ कि आप धर्म को कभी न छोड़ें। पर इस संदर्भ में एक बात स्पष्ट कर देना चाहता हूँ। मैं जिस धर्म पर डटे रहने की बात कह रहा हूँ, वह तथाकथित धार्मिकोंवाला धर्म नहीं है, जिसे कि उन्होंने संकीर्ण रूढ़ियों के कटघरे में बंद कर रखा है, जाति, वर्ग, वर्ण, लिंग, संप्रदाय आदि की सीमाओं में जकड़ रखा है। मैं तो उस धर्म का पक्षपाती हूँ, जो जीवन का उन्नायक सहज तत्त्व है। उसके विकास में ही जीवन का विकास है। वह है सत्य और अहिंसा का आचरण। यह ऐसा धर्म है, जिसके बिना न मैं जी सकता हूँ, न आप ही। न महाजन जीवित रह सकता है और न किसान ही। यदि महाजन किसानों का शोषण करते हैं तो यह उनके जीवन के लिए घातक है। आज महाजनों की चलती है, इसलिए वे उनका शोषण करते हैं। पर सब दिन सरीखे नहीं होते। जीवन में चढ़ाव-उतार का क्रम चलता ही रहता है। इस यथार्थ को वे क्यों भूल जाते हैं? कल यदि किसानों की चलेगी तो प्रतिक्रियास्वरूप वे भी ऐसा क्यों नहीं करेंगे? इस प्रकार हिंसा से प्रतिहिंसा, वैमनस्य, अविश्वास आदि जनमेंगे। इनकी चरम परिणति होगीह्वयक्ति, समाज और राष्ट्र का विध्वंस। बेशक, किसी भी

चिंतनशील व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के लिए यह स्थिति काम्य नहीं है, इसलिए जीवन और धर्म के संबंध को हर हालात में बनाए रखने की जरूरत है।

अणुव्रत-आंदोलन धर्म और जीवन के संबंध-विच्छेद की भूल को सुधारने के लिए प्रयत्नशील है। वह व्यक्ति-व्यक्ति को इस दिशा में प्रेरित कर स्वस्थ समाज का निर्माण करना चाहता है। इस आंदोलन की आचार-संहिता को स्वीकार कर आप स्वस्थ समाज के निर्माण के अभियान में योगभूत बन सकते हैं।

बल्लभ नगर

२७ नवंबर १९६०

३६ : अपरिग्रह

अपरिग्रह सुखी जीवन का आधार है। परिग्रह दुःख का हेतु है। प्रश्न है, परिग्रह क्या है? वह किससे संबद्ध है? गहराई से देखा जाए तो परिग्रह पदार्थ में नहीं, बल्कि मन में रहता है। वह वृत्तियों से संबद्ध है। पदार्थ या वस्तु पर है। उसमें स्व की बुद्धि बनी कि परिग्रह प्रकट हो गया। शब्दांतर से हम इस बात को यों कह सकते हैं कि मूलतः परिग्रह मूर्च्छा या आसक्ति है और संबंधतः पदार्थ और वस्तुएं भी।

अब प्रश्न होता है कि वर्तमान युग अर्थ का है। जीवन के लिए आवश्यक पदार्थ या वस्तुएं अर्थ से ही प्राप्त की जा सकती हैं। वह युग कब का ही समाप्त हो गया, जिस युग में वस्तु से वस्तु का विनिमय किया जा सकता था। ऐसी स्थिति में व्यक्ति अर्थ से असंबद्ध कैसे रहे? अर्थ को कैसे छोड़े? साधु-संन्यासी सब बन नहीं सकते। भिक्षा द्वारा जीवन-यापन करना सबके लिए संभव नहीं है। मैं इस यथार्थ को स्वीकार करता हूँ कि सभी व्यक्ति अपरिग्रही नहीं बन सकते। अर्थ से सर्वथा असंबद्ध रहना किसी-किसी के लिए ही संभव हो सकता है, सबके लिए नहीं। पर इस बात को जान-सुनकर किसी को भी निराश और चिंतित होने की अपेक्षा नहीं है। पूर्ण अपरिग्रही न बना जा सके तो क्या हुआ, उस दिशा में गति तो हर कोई कर ही सकता है। इसके लिए व्यक्ति को गृह त्यागकर साधु-संन्यासी बनना अपेक्षित नहीं है। भिक्षा मांगकर खाने की आवश्यकता नहीं है। अलबत्ता अपरिग्रह के पथ का पथिक बनने में उसे एक बात का ध्यान रखना नितान्त आवश्यक है परिग्रह पीठ के पीछे रहे, मुंह के सामने नहीं। लोग उसको न देखें, बल्कि वह लोगों को देखे। इस सूत्रहको गहराई से हृदयंगम करने की जरूरत है। उसके दिमाग में यह बात बहुत स्पष्ट रहे कि अपेक्षा से अपेक्षा ठीक चलती है, अपेक्षा से अपेक्षा पूरी नहीं होती। पर अपेक्षा किस बात की? अपेक्षा होनी चाहिए

सुख की। कौन से सुख कीहू? पदार्थ-निरपेक्ष सुख की। वह परिग्रह में नहीं है। वह तो अपने भीतर ही है। पदार्थ-सापेक्ष सुख की कल्पना में अर्थ का बाद चल पड़ा। पर उससे मानव-जाति का भला नहीं हुआ, कोई हित नहीं सधा। मेरा चिंतन है कि मानव-जाति का भला तभी हो सकेगा, जब सबका दृष्टि-केन्द्र अपरिग्रह बनेगा, जन-जन के मन में संग्रह की भावना के स्थान पर त्याग की भावना जागेगी, समाज में अर्थवाद और परिग्रह के स्थान पर अपरिग्रह की प्रतिष्ठा होगी।

३८. व्रत की चेतना जागे*

हिंसा से हिंसा बढ़ती है, वैर से वैर बढ़ता है। इस शाश्वत सत्य से मनुष्य हजारों वर्षों से परिचित है। इसके बावजूद हिंसा और वैर की पुनरावृत्तियां क्यों हो रही हैं? यह एक रहस्यमय प्रश्न है। प्रश्न गंभीर अवश्य है, पर अज्ञेय नहीं है। जो व्यक्ति एक बार हिंसा के क्षेत्र में उतर जाता है, वह फिर सहज ही उस वलय से बाहर नहीं निकल पाता। उसे चारों ओर वही दिखाई देती है—हिंसा, हिंसा।

आत्म-दर्शी मुनियों ने कहा—‘सभी जीवों को आत्म-तुल्य समझो।’ इसका आशय यही तो है कि किसी की भी उपेक्षा मत करो, किसी का भी तिरस्कार मत करो, घृणा मत करो। तुम्हारी उपेक्षा संदेह को जन्म देगी। जो संदिग्ध होगा, वह सहिष्णु नहीं होगा। जहां असहिष्णुता होती है, एक-दूसरे को सहन करने की क्षमता नहीं होती, वहां कोई अभय नहीं हो पाता। अभय बिना शांति नहीं होती। यह हिंसा का चक्र है, जो आगे-से-आगे बढ़ता चला जाता है।

आज जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में हिंसा उत्तेजित हो रही है। प्रांत भाषा, राष्ट्र आदि विभाग, जो मनुष्य-समाज की सुविधा के लिए हैं, वे ही उसके लिए भयजनक हो रहे हैं। यह क्यों नहीं समझा जाता कि मनुष्य उनके लिए नहीं है, बल्कि वे मनुष्य के लिए हैं? अर्थ के लिए मनुष्य नहीं है, अपितु वह मनुष्य के लिए है, यह भी नहीं समझा जा रहा है। वर्तमान जीवन की ये बड़ी गुत्थियां हैं, जो राजनीति के हाथों में उलझती चली जा रही हैं। इन्हें सुलझाने का सरल या कठिन जो कोई उपाय है, वह है—व्रत। आज उसकी सर्वाधिक आवश्यकता है। इसी प्रेरणा को जागृत करने के लिए अणुव्रत-आंदोलन द्वारा ‘अहिंसा-दिवस’ मनाया जाता है। जो लोग बड़े हैं—हमारी भाषा में बड़े वे हैं, जो अपने लिए व्रतों को स्वीकार करना

*‘अहिंसा -दिवस’ पर प्रदत्त प्रवचन संदेश।

आवश्यक नहीं समझते, वे अपने निर्णय पर पुनर्विचार करें। जो लोग साधारण हैंहमेरी भाषा में साधारण वे हैं, जो वर्तमान परिस्थितियों में ब्रतों को स्वीकार करना असंभव मानते हैं, वे भी अपने निर्णय पर पुनर्विचार करें। जो लोग ब्रती हैंहन्न बड़े हैं और न साधारण हैंहवे अपने अनुभवों से दूसरों को लाभान्वित करें, अहिंसा के संदेश को आगे बढ़ाएं।

३९. अहिंसा सबसे बड़ा विज्ञान है

वर्तमान के दर्पण में जब हम विश्व को देखते हैं तो वह अनेक समस्याओं से घिरा हुआ दिखाई देता है। चारों ओर हिंसा का वातावरण बना हुआ है। व्यक्ति व्यक्ति से आतंकित है। इसी प्रकार एक वर्ग दूसरे वर्ग से आतंकित है, एक जाति दूसरी जाति से भयभीत है, एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र से डरा हुआ है। स्थान-स्थान से शांति का स्वर मुखर हो रहा है। अमेरिका के राष्ट्रपति आइजन होवर और रूस के राष्ट्रपति। खुश्चेव आज बड़े बुलंद स्वर में शांति की बात कर रहे हैं। पर प्रश्न यह है कि अशांति पैदा किसने कीह? विश्व में अशांति का वातावरण बनाने में जिनकी अहम भूमिका रही, वे शांति की चर्चा करें, यह कैसी बात हैह! हालांकि शांति की बात कोई भी करे, कभी भी करे, उसे सिद्धांततः बुरा नहीं कहा जा सकता, बशर्ते बात करनेवाला उसके प्रति ईमानदार हो, गंभीर हो। पर यदि केवल बात करने के लिए औपचारिक रूप में यह शांति की बात होती है तो उसकी कोई सार्थकता मैं नहीं देखता। उससे विश्व-शांति की बात कभी भी साकार नहीं हो सकती।

मूलभूत बात यह है कि जब तक शांति के वास्तविक साधन को नहीं अपनाया जाएगा, तब तक हजार चर्चा और वार्ता करने के उपरांत भी हम विश्व-शांति की दिशा में एक कदम भी आगे नहीं बढ़ा सकते। मेरी दृष्टि में शांति का एकमात्र आधार हैहअध्यात्म। अहिंसा उसका ही फलित है। अहिंसा में जबरदस्त शक्ति होती है। मैं उसे सबसे बड़ा विज्ञान मानता हूं। लोग अहिंसा की वास्तविक शक्ति से परिचित नहीं हैं, इसलिए हिंसा का सहारा लेते हैं। जिस व्यक्ति को अहिंसा की ताकत का सही-सही ज्ञान और अनुभव हो जाता है, वह किसी भी हालत में हिंसा में विश्वास नहीं कर सकता, उसको आधार मानकर नहीं चल सकता।

नई दिल्ली २६ जनवरी १९६०

४०. अहिंसा जीवन-व्यापिनी कैसे बनेह?

दो स्थायी तत्त्व

इस संसार में हिंसा और अहिंसा दोनों की सत्ता अनादिकाल से रही है। यानी हिंसा उतनी ही नित्य या स्थायी है, जितनी अहिंसा। इन दोनों का संघर्ष निरंतर चलता रहा है, आज भी चल रहा है, अनागत में भी यह क्रम कभी बंद होनेवाला नहीं है।

अहिंसा धर्म का प्रमुखतम या एकमात्र सूत्र है। एकमात्र इस दृष्टि से कि धर्म के छोटे-बड़े जितने भी साधना-सूत्र हैं, उनके केंद्र में अहिंसा ही है। अहिंसा को सर्वथा अलग रखकर हम धर्म की कल्पना ही नहीं कर सकते। जो व्यक्ति अहिंसा की समग्रता से आराधना करता है, मानना चाहिए कि वह धर्म की समग्रता से आराधना कर रहा है। पर अधिकतर लोग विस्ताररुचि होते हैं। इतने संक्षेप में वे तत्त्व को सम्यक रूप में हृदयंगम नहीं कर सकते, इसलिए सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शील, संतोष, क्षमा, मृदुता, ऋजुता आदि के रूप में उसे व्याख्यायित किया जाता है।

हिंसा के प्रति आकर्षण क्योंह?

अहिंसा जहां धर्म का आधारभूत तत्त्व है, वहीं हिंसा सभी प्रकार की पापकारी प्रवृत्तियों का प्रतिनिधि तत्त्व है। संसार में जितना भी संघर्ष, टकराव, वैमनस्य, अशांति और दुःख हम देख रहे हैं, वह सब इसी हिंसा का परिणाम है। लोग इस तथ्य से अपरिचित हैं, ऐसा तो मैं नहीं कह सकता, पर इसके बावजूद लोगों का आकर्षण हिंसा के प्रति है, यह एक कट्टु यथार्थ है। इसका कारणह? कारण यह कि उससे प्राणी की भोगवृत्ति पलती है। हम ध्यान दें, भोग सामग्री-सापेक्ष है, सामग्री परिग्रह-सापेक्ष है और परिग्रह हिंसा-सापेक्ष है। आदमी भोग छोड़ना नहीं चाहता और न परिग्रह ही छोड़ना चाहता है। ऐसी स्थिति में वह चाहकर भी हिंसा को

नहीं छोड़ सकता। इसी कारण अहिंसा का मार्ग कठिन हो उठता है।

अहिंसा में सहज आनंद है

अहिंसा की पालना में सहज आनंद है, सुख है, अंतस्तोष है। उन अनंत-अनंत लोगों की निर्विवाद अनुभूति है, जिन्होंने अहिंसा को अपनाया है, जीवन के क्षण-क्षण में उसकी आराधना की है। पर जब तक बाहरी विकार प्राणी को घेरे रहते हैं, तब तक वह अहिंसा की आराधना नहीं कर सकता। और जब आराधना नहीं कर सकता, तब इस सहज आनंद, सुख और अंतस्तोष की अनुभूति भी नहीं हो सकती। वस्तुतः विकार व्यक्ति को व्यामोह में फंसाता है। उसके मौलिक आनंद को दबाए रखता है। अहिंसा मन, वाणी और काया की निर्विकार स्थिति है। निर्विकार स्थिति के लिए बाहरी पदार्थों की सीमा नितान्त अपेक्षित है। बाहरी पदार्थ ममकार के निमित्त बनते हैं और ममकार विकार पैदा करता है। केवल तर्क पर चलनेवाले पदार्थ-वृद्धि, आवश्यकता-वृद्धि को सुख और आनंद का साधन बताते हैं। पर ज्ञानियों का अनुभव इसके विपरीत जाता है। आवश्यकताओं का अनियंत्रण/असीमाकरण जीवन में घोर अपवित्रता का विष घोलता है। वह व्यक्ति को अधिक-से-अधिक पदार्थों को बटोरने की अंधी दौड़ में प्रवृत्त करता है, जिसके फलस्वरूप वह सहज आनंद की अनुभूति से दूर-से-दूर होता चला जाता है। यह एक वास्तविकता है। जो लोग इस वास्तविकता के संदर्भ में सोच नहीं सकते, वे इसे श्रद्धा/विश्वास के आधार पर स्वीकार करें और जो सोच सकते हैं, वे इस वास्तविकता को स्वानुभूति की कसौटी पर कसकर देखें। आवश्यकताओं के सीमाकरण से कैसा आनंद मिलता है, इसका प्रयोग करके देखें। यदि ऐसे प्रयोग चलें और आगे बढ़ें तो अहिंसा के जीवन-व्यापिनी बनने में अधिक समय नहीं लगेगा।

४१. अहिंसा : भारत की सबसे बड़ी संपत्ति

अर्थ को अनपेक्षित महत्त्व मिलना बंद हो

दुनिया की वर्तमान स्थिति पर ध्यान देने पर एक बात बहुत स्पष्ट रूप से समझ में आती है कि भौतिकवाद बहुत बढ़ रहा है। यही तो कारण है कि मनुष्य अर्थ के प्रति अत्यधिक आकृष्ट है। अर्थ के इस अति आकर्षण के चलते उसको अपने कर्तव्य तक का भान नहीं। वह करणीय और अकरणीय का विवेक नहीं कर पाता। मैं मानता हूँ कि अर्थ सामाजिक प्राणी की एक अनिवार्य आवश्यकता है। जीवन-यापन के साधन उसी से जुटाए जाते हैं। पर उसको जीवन का साध्य मान लेना अनेकानेक समस्याओं को जन्म देनेवाला है। आज हमें जितनी समस्याएं दिखाई दे रही हैं, उनमें से बहुत-सी समस्याएं अर्थ को आवश्यकता से ज्यादा महत्त्व मिलने के कारण ही हैं। इसलिए यह नितांत अपेक्षित है कि अर्थ को अनपेक्षित महत्त्व मिलना बंद हो।

भारत की सबसे बड़ी संपत्ति

भारतीय संस्कृति त्यागप्रधान संस्कृति है। इसमें धन-वैभव को सर्वोच्च प्रतिष्ठा नहीं दी गई। सर्वोच्च प्रतिष्ठा दी गई त्याग को, संयम को। यही कारण है कि बड़े-बड़े धन-कुबेर और सम्राट अकिंचन संतों की चरण-धूलि को अपने मस्तक पर लगाकर धन्यता की अनुभूति करते रहे हैं। इस त्यागमूलक संस्कृति का ही यह प्रभाव समझना चाहिए कि यहां के लोगों ने अहिंसा को अपनी सबसे बड़ी संपत्ति माना है। मैं मानता हूँ, भले बहुलांश विश्व भौतिकवाद से प्रभावित हो, पर जब तक भारत के पास यह अहिंसा की शक्ति सुरक्षित है, कोई बड़ा-से-बड़ा भौतिकवादी राष्ट्र उसकी तरफ नजर भी नहीं उठा सकेगा। किंतु भारत ने यदि यह संपत्ति खो दी तो उसकी सुरक्षा मुश्किल हो सकती है। इसलिए भारतीय लोगों को मेरा बलपूर्वक कहना है कि वे हर स्थिति में अपनी इस अहिंसा की संपत्ति की सुरक्षा के लिए जागरूक रहें।

अहिंसा धर्म का प्रतिनिधि तत्त्व है

अहिंसा को आप मात्र जीव को न मारने के अर्थ तक सीमित न करें। यह बहुत व्यापक तत्त्व है। एक अपेक्षा से यह पूरे धर्म का प्रतीक है, प्रतिनिधि तत्त्व है। आप ही बताएं, अहिंसा के अन्तर्गत सत्य, अचौर्य आदि का समावेश है या नहीं? क्या असत्य बोलना हिंसा का ही एक रूप नहीं है? क्या चोरी करना हिंसक प्रवृत्ति नहीं है? क्या परिग्रह हिंसा का मूल कारण नहीं है?.....इस दृष्टि से मैंने कहा कि अहिंसा पूरे धर्म का प्रतिनिधि तत्त्व है। उसको अलग रखकर हम धर्म को परिभाषित कभी भी नहीं कर सकते। निष्कर्ष की भाषा में ऐसा कहा जा सकता है कि यदि एक अहिंसा की सुरक्षा कर ली जाती है तो धर्म की सुरक्षा अपने-आप हो जाती है। इसलिए जब-कभी अहिंसा की सुरक्षा की बात चले, हमारी दृष्टि धर्म पर केंद्रित हो जानी चाहिए।

धर्म का मूल स्वरूप प्रकट हो

पर दुःख के साथ कहना पड़ता है कि आज धर्म अपने मूल स्वरूप में नहीं है। उसका स्वरूप विकृत हो गया है। विकृत होने से मेरा तात्पर्य आप समझते ही होंगे। वह आज आत्म-पवित्रता या जीवन-शुद्धि के साधन के स्थान पर स्वार्थ-सिद्धि, अर्थ-संग्रह एवं सुख-सुविधा का साधन बन रहा है। जो धार्मिकता धार्मिक व्यक्ति के जीवन में उतरनी चाहिए, वह आज धर्मग्रंथों और धर्मस्थानों में जकड़ी पड़ी है। ऐसी स्थिति में धर्म से मानव-समाज का अपेक्षित हित कैसे संभव है? यदि हम चाहते हैं कि धर्म व्यक्ति-व्यक्ति के जीवन की पवित्रता को साधता रहे तो हमें उसके साथ जुड़ चुकी विडंबना और अकर्मण्यता को समाप्त करना होगा। मेरी दृष्टि में वह धर्म अधूरा है अथवा मात्र नाम का धर्म है, जिसके प्रवेश के पश्चात भी व्यक्ति के जीवन में पवित्रता की महक नहीं फूटती। अणुव्रत-आंदोलन धर्म का परिष्कृत रूप है। इसको अपनाकर व्यक्ति अपने जीवन को पवित्रता की दिशा में आगे बढ़ा सकता है, अपने आचरण और व्यवहार से धार्मिक बन सकता है। इस आंदोलन की बड़ी विशेषता यह है कि यह जाति, वर्ग, वर्ण, संप्रदाय आदि की संकीर्णताओं से मुक्त एक शुद्ध नैतिक और आध्यात्मिक अभियान है। दूसरे शब्दों में यह मानव-मात्र के लिए जीवन-परिष्कार का आंदोलन है। मैं चाहता हूँ, व्यापक स्तर पर लोग इस आंदोलन के साथ जुड़ें, इसकी आचार-संहिता को गहराई से समझें और

संकल्प की भूमिका पर इसे स्वीकार करके स्वस्थ जीवन जीने की दिशा में प्रयाण करें। अणुव्रत के इस उपक्रम के माध्यम से यदि जन-जन के जीवन-व्यवहार में बदलाव आता है तो यह मेरे लिए अतिरिक्त प्रसन्नता की बात होगी, मानव-समाज की बड़ी सेवा होगी।

कांकरोली

३ जुलाई १९६०

४२. अहिंसा ही शरण है

इस संसार के सामने दो ही मार्ग हैं—एक हिंसा का तथा दूसरा अहिंसा का। अब बहुत गंभीरता से समझने की बात यह है कि हिंसा विनाश का पथ है, जबकि अहिंसा विकास का पथ है, निर्माण का मार्ग है। हिंसा अशांति और अराजकता उत्पन्न करती है। इसके ठीक विपरीत अहिंसा की स्थिति है। वह शांति और सुव्यवस्था की प्रदात्री है। यह एक त्रैकालिक सच्चाई है कि हर प्राणी स्वभावतः सुख और शांति का इच्छुक होता है। दुःख और अशांति किसी को भी अभीष्ट नहीं है। इसके आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अहिंसा ही हर प्राणी को काम्य है। हिंसा के भयंकर विध्वंसक परिणाम प्रत्यक्ष जान लेने के पश्चात संभवतः हिंसक-से-हिंसक व्यक्ति के मन में भी उसके प्रति सहज विकर्षण का भाव पैदा हो जाएगा। हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि स्वयं हिंसक वधिर भी मृत्यु के नाम से भयभीत हो जाता है, उसका दिल कांप उठता है। मौत के तख्ते पर चढ़ा खूंखार दस्यु भी जीवन-दान की बात सुनकर शांति का अनुभव करता है। ऐसी स्थिति में व्यक्ति का हिंसा की शक्ति में विश्वास मृगतृष्णा के अतिरिक्त और क्या माना जा सकता है? हिंसा के आकर्षण में फंसकर मानव-समाज ने इतनी भयंकर स्थिति निर्मित कर ली है कि आज वह उसे ही निगलने जा रही है। जैन आगम *प्रश्नव्याकरण* में हिंसा को **पावो, चंडो, रुद्धो, खुद्धो, साहसिओ, अणारिओ, णिग्घणो, णिस्संस्सो, महब्भओ, पड्भओ, अतिभओ**—हपाप, चंड, रुद्र, क्षुद्र, दुःसाहसिक, अनार्य, निर्घृण, नृशंस, महाभय, प्रतिभय, अतिभय आदि नामों से पुकारा गया है।

अचिंत्य शक्ति होती है अहिंसा में

अहिंसा की शक्ति अचिंत्य होती है। वह व्यक्ति-व्यक्ति के अंतस्तल में पारस्परिक बंधुत्व का भाव जगाती है। अहिंसा की यह एक उल्लेखनीय विशेषता है कि उसका प्रभाव हिंसा की तरह तात्कालिक और अस्थायी नहीं होता। वह व्यक्ति के हृदय में क्रमशः स्थान प्राप्त करती हुई अहिंसा ही शरण है—

एक दिन हमेशा-हमेशा के लिए उसकी जीवन-संगिनी बन जाती है। उसका प्राथमिक परिणाम हैहृदय-परिवर्तन। जहां व्यक्ति का हृदय-परिवर्तन होता है, वहां शांति, प्रेम और बंधुत्व की उपलब्धि सहज हो जाती है। ये ही तीनों तत्त्व क्रमशः बढ़ते-बढ़ते विश्व-शांति, विश्व-प्रेम और विश्व-बंधुत्व तक पहुंच जाते हैं। इस उपलब्धि से आगे की उपलब्धि हैहृदय-आत्म-शांति यानी मुक्ति। यह सब अहिंसा का दूरगामी परिणाम है। इसीलिए भगवान महावीर ने प्रश्नव्याकरण में कहा हैहृदयसा सा भगवती अहिंसा जा साहृदयपिब असणं, पक्खीणं पिब गयणं, तिसियाणं पिब सलिलं, खुहियाणं पिब असणं, समुद्धमज्जे व पोतवहणं..... तस-थावर-सव्वभूय खेमकरी। अर्थात् यह वह भगवती अहिंसा है, जो भीतों के लिए शरण, भूखों के लिए भोजन, समुद्र में नौका के सदृश..... त्रस-स्थावर सभी जीवों के लिए क्षेमकरीहृदयकल्याणकारी है।

अणुव्रत-आंदोलन अहिंसा को जन-जीवनव्यापी बनाने का सघन प्रयास है। मुझे यह कहते हुए सात्त्विक प्रसन्नता हो रही है कि आंदोलन को अपने इस प्रयास में एक सीमा तक सफलता भी प्राप्त हुई है। एक ओर जहां लोग अपने दोष, दुर्बलताएं परिस्थितियों पर मढ़ते हैं, वहीं एक अणुव्रती प्रतिकूल परिस्थितियों पर विजय प्राप्त करने का दृढ़ संकल्प करता है। यह अहिंसा की सफलता का संकेत और प्रमाण है।

अहिंसा, आचरण और व्यवहार में आए

आज हम यहां राजनगर में अहिंसा-दिवस मना रहे हैं। और भी अनेक गांवों, कस्बों, नगरों और महानगरों में यह समायोजन हो रहा है। पूछा जा सकता है, क्या एक दिवस के इस आयोजन से समाज बदल जाएगा? अहिंसा की प्रतिष्ठा हो जाएगी? यह अतिकल्पना है। मैं अतिकल्पना नहीं करता। एक दिन में समाज नहीं बदल सकता। उसके बदलने में समय लगता है। इसलिए एक दिवसीय इस समायोजन से अहिंसा समाज में प्रतिष्ठित हो जाएगी, ऐसी कोई संभावना मैं नहीं करता। इसके बावजूद इस समायोजन की उपयोगिता असंदिग्ध है। भविष्य में अहिंसा के विकास के लिए यह जन-जन के लिए प्रेरणा-स्रोत बनता है। साथ ही अतीत को भी झकझोरता है। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति का यह पुनीत कर्तव्य है कि अहिंसा-दिवस के इस समायोजन से प्रेरणा लेकर अहिंसा के सौरभ को दशों दिशाओं में इस प्रकार प्रसारित करे कि

जिससे व्यक्ति-व्यक्ति अहिंसा के प्रति आकर्षित हो, आस्थाशील बने। ध्यान रहे, जब तक अहिंसा जन-जन के आचरण और व्यवहार का तत्त्व नहीं बनेगी, तब तक व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र और विश्वहकिकिसी भी स्तर पर शांति की बात व्यवहार्य नहीं बन सकती। वह मात्र कल्पना बनकर रह जाएगी। इसलिए पुनः कहना चाहता हूं कि हर व्यक्ति अपनी दैनिक चर्या में अहिंसा का स्वयं प्रयोग करके दूसरों के लिए प्रेरणा-स्रोत बने। अंत में

**जन-जन में जाग जाए, व्यवहार में अहिंसा।
बन ज्योति-पुंज आए, संसार में अहिंसा॥**

राजनगर

२३ अक्टूबर १९६०

४३. पैसों से मिलनेवाली शिक्षा जीवन तक कैसे पहुंचेगी?

गांव के सौभाग्य से संत गांव में आते हैं। उनके आगमन से गांव के बच्चे-बच्चे में उत्साह की लहर दौड़ने लगती है। गांव का दृश्य बदल जाता है और धर्म की भावना जागृत हो जाती है। पर संतों का आगमन कभी-कभी होता है। किसान आठ महीने तक कठिन परिश्रम करता है, तब उसे फसल काटने को मिलती है। भले कोई कितना भी पानी क्यों न सींचे, ऋतु आने पर ही फल पकते हैं। प्रश्न है? संतों की इतनी महत्ता क्यों? जहां संसार एक-एक पैसे के लिए मारा-मारा फिरता है, संत प्राप्त संपदा को धूल समझकर टुकरा देते हैं। पैसे में कैसा आकर्षण है! बनिए पैसे के लिए धोखा देते तनिक भी नहीं सकुचाते। तलवार के बिना ही गरीबों का जीवन समाप्त कर देते हैं। गरीबों को ठगते समय उनकी कलम, कलम नहीं, तीक्ष्ण धारवाली तलवार बन जाती है। जरा सोचें तो सही, जिनको तुम ठगते हो, उनको पैसा नहीं चाहिए क्या? बनिए इसे आक्षेप न मानें। यहां बनिए से तात्पर्य किसी जाति-विशेष से नहीं, किंतु *विणज करे सो बाणियोहवाणिज्य* करनेवाला बिनया कहलाता है।

आज बनिए ही नहीं, किसान और मजदूर भी पैसे के लिए दूसरों को धोखा देने में संकोच नहीं करते हैं। वे भी दूध में पानी, घी में वेजीटेबल मिलाकर बेचने से नहीं चूकते। और तो दूर, आज विद्या भी पैसों से बिकने लगी है। अध्यापक को फीस चाहिए और ट्यूशन भी। पर वे करें भी क्या? सामाजिक परिस्थितियों के साथ उन्हें भी पेट के लिए ऐसा करना पड़ता है। प्राचीन शिक्षण-पद्धति को देखें। कैसी सादी व आदर्श प्रणाली थी! उस समय विद्या पैसों से नहीं, अपितु योग्यता से मिलती थी। आखिर पैसों से मिलनेवाली विद्या भी पैसों तक ही पहुंचेगी, जीवन तक उसकी पहुंच कैसे होगी? वर्तमान जगत पर पैसा कितना छा

गया है! आज भगवान भी पैसों से बिकते हैं! रुपयों की भेंट से तो सोए हुए भगवान के कपाट भी आधी रात में खुल जाते हैं! ऐसी स्थिति में मैं देखता हू कि अपरिग्रही आत्माएं कितनी सुखी हैं! संत-जनों को एक पैसे की भी लालसा नहीं है। वे सुख की नींद सोते हैं और निर्भय विहार करते हैं। उन्हें न चोरों का डर है और न डाकुओं का। आठों की प्रहर उनके द्वार खुले रहते हैं। मैं जानता हूं, आप सब महाव्रतों को धारण नहीं कर सकते और न आपसे मैं महाव्रती बनने के लिए कह रहा हूं। महाव्रती तो कोई विरला पुरुष ही बनेगा, किंतु अणुव्रती तो आप बन ही सकते हैं। इसमें न तो आपको घर छोड़ना पड़ता है न कारोबार। और न अणुव्रती बनने के लिए कुछ फीस ही लगती है। सैद्धांतिक सचाई तो यह है कि पैसों से धर्म होता ही नहीं। धर्म करना है तो जीवन को त्याग-तपस्या के मार्ग में लगा दीजिए। धर्म तन-मन से होता है, धन से नहीं। अणुव्रत के नियम बहुत कड़े नियम नहीं हैं। इन्हें आप बिना किसी विशेष कठिनाई के निभा सकते हैं। फिर इन्हें अपनाने से आपकी प्रतिष्ठा भी बढ़ेगी और धर्म का क्षेत्र भी व्यापक बनेगा। अणुव्रत की दृष्टि में जातिभेद को कोई स्थान नहीं है। मानव-जाति एक है। मनुष्य की दृष्टि से सब बराबर हैं। क्या पशु-जाति में कोई हिंदू, कोई मुसलमान होता है? यह गाय मुसलमान, यह घोड़ा हिंदू, क्या ऐसा सुना है? सब पशुओं की एक ही जाति है। इसी प्रकार सभी मनुष्य एक हैं। मनुष्य मनुष्यता से बनता है। अणुव्रत मनुष्यता का मार्ग है। अतः मैं सबको आह्वान करता हूं कि जीवन में मानवता की पुनः प्रतिष्ठा के लिए अणुव्रत को अपनाइए। तभी आपका जीवन सुखी, शांत और पवित्र होगा।

४४. विद्यार्थियों के जीवन-निर्माण की दिशा

आदर्श विद्यार्थी संगठन द्वारा विद्यार्थी-सम्मेलन का आयोजन किया गया है। बड़ी संख्या में विद्यार्थी मेरे समक्ष समुपस्थित हैं। उनसे मुझे चुंबक रूप में कुछ बातें कहनी हैं। मैं ऐसा मानता हूँ कि विद्यार्थी-वर्ग समाज और राष्ट्र का एक ऐसा वर्ग है, जिसको लक्ष्य बनाकर अधिक-से-अधिक काम करने की अपेक्षा है, सर्वाधिक काम करने की अपेक्षा है। कारण बहुत स्पष्ट है। विद्यार्थी ही समाज और राष्ट्र का भावी कर्णधार होता है। उसका जीवन जितना अधिक निर्मित होता है, सुसंस्कारित होता है, समाज और राष्ट्र की उन्नति की संभावनाएं उतनी ही अधिक प्रकट होती हैं, उनका भविष्य उतना ही अधिक उज्ज्वल होता है। इसी बात को ध्यान में रखकर मैं विद्यार्थियों के जीवन-निर्माण के लक्ष्य से कार्य करने के लिए सदैव सचेष्ट रहता हूँ।

पद और यश की आकांक्षा से बचें

विद्यार्थियों से पहली बात यह कहना चाहता हूँ कि वे अपनी सुप्त शक्तियों को जगाकर समाज व राष्ट्र में ऊंचे-से-ऊंचे पद पर पहुंचने की अर्हता अर्जित करें, पर कभी भी पद-लोलुप न बनें। पद-लोलुपता एक ऐसा दुर्गुण है, जो अच्छे-से-अच्छे व्यक्तित्व की तेजस्विता को धूमिल कर देता है। इसी प्रकार विद्यार्थियों में यश-प्राप्ति की आकांक्षा नहीं जागनी चाहिए। यश तो अच्छा काम करनेवाले को स्वतः मिलनेवाला तत्त्व है। पर जब वह स्वयं व्यक्ति की आकांक्षा बन जाता है, तब कार्यनिष्ठा गौण हो जाती है और उसके परिणामस्वरूप उसकी कर्मजा शक्ति क्रमशः क्षीण होने लगती है।

पथ-दर्शन और उस पर चलने की तैयारी

विद्यार्थी-वर्ग की वर्तमान स्थिति पर जब मैं नजर टिकाता हूँ तो मुझे दो बातें बहुत साफ-साफ दिखाई देती हैं। पहली बात है पथ-दर्शन का

अभाव। दूसरी बात हैहृपथ-दर्शन के अनुरूप चलने की मानसिकता की कमी। इन दोनों में भी अपेक्षाकृत पथ-दर्शन की कमी ज्यादा है। मैं समझता हूँ, यदि हम विद्यार्थी-वर्ग के जीवन-विकास के महत्व को समझते हैं तो इन दोनों कमियों को सलक्ष्य पूरा किया जाना चाहिए। विद्यार्थियों का काम है कि वे पथ-दर्शन के अनुरूप अनुगमन करें। इस संदर्भ में उन्हें यह बहुत गंभीरता से समझ लेना चाहिए कि यह आवश्यक नहीं कि पथ-दर्शन उनकी मानसिकता और इच्छा के अनुकूल ही मिले। वह उनकी मानसिकता और इच्छा के प्रतिकूल भी हो सकता है। हां, यह निश्चित ही आवश्यक है वह यथोचित मिले। यथोचित मार्ग-दर्शन मिलने के पश्चात उस पर चलने की संपूर्ण तैयारी विद्यार्थियों की होनी चाहिए, फिर भले दिखाए गए मार्ग पर चलना कितना भी कठिन क्यों न हो। इसके लिए उन्हें अपनी संकल्प-चेतना को जगाना चाहिए।

जीवन-निर्माण के तीन घटक

विद्यार्थी अपनी चर्या को संयम से भावित करें, यह उनके जीवन-निर्माण के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण है। सच्चरित्रशीलता उनके जीवन-निर्माण का दूसरा महत्वपूर्ण घटक है। इसी क्रम में तीसरा स्थान अध्ययनशील वृत्ति का है। मैं मानता हूँ, अध्ययनशीलता अथवा दूसरे शब्दों में जिज्ञासु वृत्ति ही किसी भी विद्यार्थी को सही अर्थ में विद्यार्थी बनाती है। जो विद्यार्थी इन तीन बातों के प्रति जागरूक होता है, मानना चाहिए कि उसका जीवन-निर्माण की दिशा में प्रयाण हो गया।

धर्म जीवन है

विद्यार्थी स्कूली पढाई के साथ-साथ कुछ समय धार्मिक अध्ययन में भी लगाएं। उन्हें इस तथ्य को हृदयंगम करना चाहिए कि धर्म जीवन का अभिन्न अंग है। एक अपेक्षा से तो वह जीवन ही है। उसके अभाव में जीवन जीवन कहलाने के लायक भी नहीं रहता। वेद, पुराण, आगम, पिटक आदि में धर्म की बहुत महिमा गाई गई है। मूलभूत बात यह है कि धर्म ही संसार में एक ऐसा तत्त्व है, जो जीवन की पवित्रता साधता है। जीवन की पवित्रता से बढ़कर और क्या उपलब्धि हो सकती हैहृ? धर्म के जीवन में उतरने का एक बड़ा लाभ यह है कि व्यक्ति आस्तिकता के संस्कारों से भावित होता है, जो कि जीवन-निर्माण की दृष्टि से अत्यंत आवश्यक है।

जीवन-निर्माण की संक्षिप्त चर्चा मैंने विद्यार्थियों के समक्ष की। अब उस पर चिंतन और मनन करना विद्यार्थियों का काम है। मैं आशा करता हूँ कि विद्यार्थी मेरी बातों पर गंभीरता से चिंतन-मनन करके अपने जीवन-निर्माण की दृष्टि से जागरूक बनेंगे। उनकी यह जागरूकता समाज और राष्ट्र के विकास में हेतुभूत बनेगी।

राजनगर

४ जुलाई १९६०

४५. विद्यार्थियों के जीवन-निर्माण की प्रक्रिया

मेरे समक्ष सैकड़ों की संख्या में विद्यार्थी और शिक्षक उपस्थित हैं। विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण करते हैं और शिक्षक उन्हें शिक्षा प्रदान करते हैं। इस संदर्भ में एक बात समझ लेना बहुत आवश्यक है। पुस्तकें पढ़ लेने मात्र से कोई शिक्षक या ज्ञानी नहीं बन जाता। मेरी दृष्टि में वास्तविक शिक्षक या ज्ञानी वह है, जिसके जीवन में पुस्तकों का ज्ञान आचार के रूप में उतर जाता है। यथार्थ आदर्श जीवन ही शिक्षा की कसौटी है। पवित्र जीवन ही हजारों पुस्तकों का सार है। पर दुर्भाग्य से आज शिक्षा का मापदंड डिग्री एवं शिक्षण का उद्देश्य आजीविका हो गया है। यही कारण है कि विद्यार्थियों में असंयम की, अनुशासनहीनता, अशिष्टता, उदंडता, उच्छृंखलता आदि दुर्गुण उग्र रूप ले रहे हैं। इस स्थिति पर जब-कभी मैं गहराई से चिंतन करता हूँ, तब मुझे ऐसा लगता है कि एकांततः विद्यार्थियों को ही इसके लिए दोषी ठहराना नहीं होगा। अध्यापक भी इस स्थिति के लिए कम जिम्मेदार नहीं हैं। यह एक प्रकट यथार्थ है कि अध्यापकों के जीवन का सीधा असर विद्यार्थियों पर होता है। आज का विद्यार्थी यह नहीं देखता कि कौन क्या कर रहा है। वह तो यह देखता है कि कौन क्या कर रहा है। यदि अध्यापक अनुशासनहीन और व्यसनग्रस्त होगा तो उसका विद्यार्थी वैसा ही कैसे नहीं होगा? परंतु बात यहां तक भी समाप्त नहीं होती। अभिभावक भी इस स्थिति के बनने के लिए कम जिम्मेदार नहीं हैं। सामान्यतः अध्यापकों के संपर्क में तो विद्यार्थी मात्र छह-सात घंटे ही रहता है। उसका शेष समय तो अभिभावकों के पास बीतता है। ऐसी स्थिति में घर के वातावरण का प्रभाव उस पर कैसे नहीं पड़ेगा? यदि घर का वातावरण स्वस्थ नहीं है तो विद्यालय में अध्यापकों द्वारा प्राप्त सत्संस्कारों की शिक्षा बहुत प्रभावी नहीं बन पाती। आप देखें, सामान्यतः बच्चा झूठ बोलना नहीं जानता। यह पढ़ाई वह घर में अभिभावकों के पास पढ़ता है! जो विद्यार्थी भौतिकतामय और विद्यार्थियों के जीवन निर्माण की प्रक्रिया—

अनैतिकताप्रधान वातावरण में पलता है, उससे संयममय एवं नैतिक जीवन जीने की क्या आशा की जा सकती है? निष्कर्ष यह है कि विद्यार्थी-जीवन को स्वस्थ बनाने के लिए संपूर्ण वातावरण को स्वस्थ बनाना आवश्यक है। जब तक ऐसा नहीं होता है, विद्यार्थी-वर्ग के समुचित विकास का मार्ग प्रशस्त नहीं हो सकता।

छात्र आंदोलन करें

अणुव्रत-आंदोलन समाज और राष्ट्र को स्वस्थ और सुसंस्कारी बनाने का कार्यक्रम है। जन-जन में नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा के माध्यम से वह समाज के हर वर्ग और क्षेत्र को स्वस्थ बनाना चाहता है। वह विद्यार्थियों से भी आंदोलन करने के लिए कहता है। आंदोलन के नाम से आप चौंके नहीं। वह आंदोलन विध्वंसात्मक नहीं, बल्कि निर्माणात्मक होगा। हम देखते हैं कि आजकल लड़कियों को बेचकर नारी-जाति या मातृ-जाति का अपमान किया जा रहा है। विद्यार्थी इसके प्रतिरोध में यह आंदोलन करें कि जहां-कहीं ऐसे अपमान की बात होगी, वहां हम शादी नहीं करेंगे, अनैतिकता एवं शोषण का पैसा घर में नहीं आने देंगे। इसी क्रम में वे इस बात के लिए आंदोलन करें कि हम जातिवाद एवं अस्पृश्यता को नहीं रहने देंगे, धूम्रपान, मद्यपान आदि दुर्व्यसन जन-जीवन में नहीं आने देंगे। मेरा विश्वास बोलता है, यदि इस प्रकार का नैतिक आंदोलन छिड़ा तो निश्चय ही राष्ट्र में पुनः नैतिकता की प्रतिष्ठापना होगी, रामराज्य या सुराज्य का स्वप्न साकार होगा।

कांकरोली

८ अगस्त १९६०

४६. शिक्षा आत्मप्रकाशकारी है

शिक्षा व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के लिए अत्यंत आवश्यक है। उसके अभाव में न तो कोई व्यक्ति समुचित विकास कर सकता है और न कोई समाज व राष्ट्र भी विकास की यथेष्ट दिशा में गतिशील हो सकता है। हमने तेरापंथ द्विंताशब्दी के पुण्य अवसर पर हमारे संघ के साधु-साध्वियों के लिए शिक्षा को अनिवार्य करने पर चिंतन किया। पर इस संदर्भ में एक-दो बातें सोचने की यह हैं। साधु-साध्वियां कितने हैं? क्या लाखों श्रावक-श्राविकाएं आत्म-शिक्षा प्राप्त करके सम्यक ज्ञानवान बनेंगे?

यह एक निर्विवाद तथ्य है कि अज्ञानी व्यक्ति अपने कल्याण का मार्ग नहीं जान सकता। भगवान महावीर ने कहा है **अज्ञानी किं काही? किं वा नाहीय सेय पावंगं?** अज्ञानी श्रेय और अश्रेय को कैसे जान सकेगा? यहां बहुत समझने की बात यह है कि जब व्यक्ति श्रेय और अश्रेय को जानेगा ही नहीं, तब उसके द्वारा श्रेय-पथ के स्वीकरण की आशा ही कैसे जा सकती है?

यह निर्विवाद तथ्य है कि श्रेय-पथ सदाचार का है। हम इस बात को गहराई से समझें कि अनाचार से अलिप्त रहने का जो दृढ़ भाव है, वह अनुशासन से प्राप्त होता है। अनुशासन की उपलब्धि आत्म-जागृति से होती है और आत्म-जागरण शिक्षा से होता है। हमारे यहां कहा गया है **हैहनाणं पयासयरं** ज्ञान प्रकाश करनेवाला है। ज्ञान प्रकाश कब करता है? ज्ञान प्रकाश तभी करता है, जब व्यक्ति चरित्रसंपन्न हो। चरित्रहीन अथवा आचारभ्रष्ट व्यक्ति हजार पुस्तकें पढ़कर भी स्वयं को प्रकाशित नहीं कर सकता। एक नयनहीन व्यक्ति के लिए हजारों दीपों का भी क्या उपयोग है? क्या वे उसे किंचित भी प्रकाश दे सकते हैं? बहुत स्पष्ट है कि नयनहीन व्यक्ति के लिए बहुत कोई उपयोग नहीं है। वे उसे जरा भी प्रकाश नहीं दे सकते। यही बात चरित्रहीन व्यक्ति की है। शिक्षा उसके

लिए समुचित फलदायी नहीं हो सकती। इसलिए यह नितांत अपेक्षित है कि चरित्र का विकास हो। चारित्रिक विकास के साथ ही शिक्षा की पूरी उपयोगिता सिद्ध हो सकती है, व्यक्ति का जीवन शांत, सदाचारी, सादा एवं पवित्र बन सकता है।

राजसमंद

३० सितंबर १९६०

४७. निर्माण की बेला

विद्या-प्राप्ति का अधिकारी कौन?

विद्यार्थी-जीवन निर्माण की बेला है। यह जीवन का वह संधिकाल है, जहां भले-बुरे संस्कारों की सृष्टि प्रारंभ होती है। विद्यार्थियों को इस अवस्था में जागरूकतापूर्वक जीवन पवित्र संस्कारों को जगाना चाहिए, जिससे वे विद्या-प्राप्ति के सच्चे पात्र और अधिकारी बन सकें। भगवान महावीर ने कहा है—

वसे गुरुकुले निचं, जोगवं उवहाणवम्।

पियंकरे पियं बाई, सो सिक्खालद्धुमरिहई॥

हजो सदा गुरुकुल में निवास करनेवाला, योगवान, उपधानवान, पवित्र कार्य करनेवाला एवं प्रिय बोलनेवाला होता है, वही विद्या प्राप्त करने में समर्थ है।

भारतवर्ष में प्राचीनकाल में विद्यार्थी गुरुकुलों में विद्याध्ययन किया करते थे। वहां सात्त्विक वृत्तिवाले गुरुजन उन्हें विद्या पढ़ाया करते थे। पर वे मात्र आजकल की तरह पुस्तकों से नहीं, अपितु अपने जीवन और आचरण से संयम, सादगी, सदाचार एवं शीलसंपन्नता का प्रशिक्षण देते थे। विद्यार्थी माता, पिता, भाई, बहिन आदि के संसर्ग को त्यागकर एकांत स्थानहृगुरुकुल में रात-दिन गुरु के सान्निध्य में रहते थे। गुरु के इस दीर्घकालिक सहवास से उन्हें जीवन की बातें सीखने को मिलती थीं, जीने की कला जानने को मिलती थी। यही कारण है कि उस समय के विद्यार्थी सात्त्विक वातावरण में सुंदर और संयममय संस्कार प्राप्त कर आदर्श जीवन जीते थे।

आज के विद्यार्थियों की स्थिति भी मेरे सामने है। बड़ी मुश्किल से पांच-छह घंटे वे शिक्षकों के संपर्क में रहते हैं। शेष समय वे भौतिकता के विषाक्त वातावरण में व्यतीत करते हैं। घर, बाजार, सिनेमा, नाटक में

हिंसा, मार-काट, अश्लीलता, अनैतिकता के संस्कार पाते हैं। ऐसी स्थिति में उनसे सात्विकता, नैतिकता, प्रामाणिकता, सच्चरित्र की आशा कैसे की जा सकती है? यही कारण है कि आज के विद्यार्थी जीवन के सही मूल्यों को आंकने में असफल रहते हैं। इसका परिणाम यह आते है कि भौतिकता, उनके जीवन की दिशा बन जाती है, विलासिता उनकी जीवन-शैली बन जाती है।

विद्या ददाति विनयम्

यह एक प्रसिद्ध उक्ति है **विद्या ददाति विनयम्**। विद्या विनय प्रदान करती है। यह एक गहरी सचाई है। जिस विद्या से विद्यार्थी विनीतता के स्थान पर उदंडता सीखता है, उस विद्या को विद्या नहीं, अविद्या कहा गया है। उससे जीवन में गुणों के विकास के विपरीत उनका ह्रास होता है। इसलिए **विद्या विनयेन शोभते** की बात कही गई।

हर विद्यार्थी इस तथ्य को हृदयंगम करे कि विद्या विनय से सुशोभित होती है। प्रकृति का उदाहरण हमारे सामने है। फलवान वृक्ष सदैव नम्रशील रहते हैं, जबकि टूट (सूखा वृक्ष) में स्तंभता होती है। वह अकड़कर खड़ा रहता है। विद्यार्थियों को चाहिए कि वे फलवान वृक्ष की तरह विनम्र बनें। इससे वे अपने को अच्छे विद्यार्थी के रूप में प्रतिष्ठित कर सकेंगे, उनके विद्याभ्यास की सार्थकता प्रकट होगी। विनम्रता की तरह ऋजुता, सत्यवादिता आदि भी विद्यार्थी-जीवन को शोभित करनेवाले तत्त्व हैं। इन तत्त्वों के बिना विचार और आचार में सामंजस्य नहीं रहता। ध्यान रहे, आचार और विचार का सामंजस्य ही विद्या की वास्तविक परिणति है।

राजसमंद

१५ अक्टूबर १९६०

४८. नया मोड़ और महिलाएं

स्त्री और पुरुष समाज के दो अंग हैं। दोनों के सहयोग से ही समाज और सृष्टि की परंपरा प्रवहमान है। स्त्री और पुरुष का विकास समाज का विकास है। दोनों में से किसी भी एक अंग का अविकास, समाज का अविकास है। समाज-विकास में नारी-जाति का सहयोग पुरुषों से कम रहा है, ऐसा मानना बहुत बड़ी भूल है। इस जाति ने इतिहास के अध्याय-के-अध्याय बनाए हैं और उसने अनेक बार दिग्मूढ़ पुरुष-समाज को नई दिशा दिखाई है। भारतीय इतिहास नारी-जाति के गौरव से भरा हुआ है। भारतीय नारी को समानाधिकार युग-युगों से प्राप्त है। भगवान महावीर ने नारी-जाति को पुरुष के समकक्ष ही स्थान दिया। जहां महात्मा बुद्ध ने स्त्रियों पर भरोसा नहीं किया, वहीं महावीर ने उन पर तनिक भी अविश्वास नहीं किया। महावीर का साध्वी-संघ, उनके साधु-संघ की तुलना में अत्यधिक विशाल था। महावीर की दृष्टि में पुरुष और नारी दोनों विकास के समान अधिकारी हैं। दोनों में विकास की समान शक्ति विद्यमान है। तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाए तो आत्म-पतन का दुस्साहस जितना पुरुषों में पाया जाता है, उतना नारी में नहीं देखा जाता। कौन कहता है कि नारी अबला है? वह तो समस्त शक्ति का कोष है। नारी माता है। माता समस्त संस्कारों का केन्द्र होती है। मानव-जाति का विकास नारी-जाति के विकास पर आधारित है। किंतु आज की नारी में कहां है वह पुरुषार्थ, जिसकी गुण-गाथा इतिहास गाते-गाते नहीं थकता है? कहां है शील और सादेपन, जिसने नारी के रूप में चार चांद लगाकर सोने में सुगंध वाली कहावत को चरितार्थ किया है और कहां है वह शिक्षा, जिससे नारी-जाति में पुरुषार्थ और सदा नई चेतना जागृत रहती थी?

यह कटु सत्य है कि पुरुष की स्वार्थ-वृत्ति ने नारी को गिराने में कोई कसर नहीं रखी है। उसने नारी को एक खिलौना मान लिया। जब नया मोड़ और महिलाएं—

जी में आया उससे खेला और फिर फेंक दिया। नारी की आत्म-शक्ति को उसने निर्दय बनकर कुचला है। नारी की चेतना को मूर्च्छित कर दिया गया, जिससे उसमें जागने की भावना ही पैदा नहीं हो पाती। नारी के जन्म-जात अधिकारों को झूठे बड़प्पन के नाम पर छीना गया और नारी में इतनी हीन भावना भर दी गई कि पुरुष के सामने उसका कोई अस्तित्व ही नहीं रहा है। पुरुष चाहे चोर, जुआरी या दुराचारी भी क्यों न हो, नारी के लिए तो वह परमेश्वर ही है। पुरुष भले ही दिन-भर कहीं भटकता फिरे, पर स्त्री को चूं करने का भी अधिकार नहीं है। बस, उसका एक ही कर्तव्य है पति-सेवा। नारी को बोलने की, पढ़ने की और बढ़ने की भी स्वतंत्रता नहीं दी। यथाह

पिता रक्षति कौमार्ये, भर्ता रक्षति यौवने।

पुत्रा रक्षति स्त्री वार्धक्ये, न स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति॥

इस प्रकार स्त्री को स्वतंत्रता के अयोग्य घोषित करके उसे केवल चहारदिवारी में बंद रहने के लिए मजबूर कर दिया गया और रूढ़ियों के बंधन डालकर उसे पंगु बना दिया गया। बड़ा दुःख और दर्द होता है समाज की इस स्वार्थ-भावना पर। किंतु यह भी सत्य है कि स्त्रियों ने अपना आत्म-विश्वास खो दिया है। उनमें उठने की और जगने की तमन्ना नहीं रही है। वरना अत्याचारों को वे क्यों सहन करें? क्या उनमें आत्म-शक्ति नहीं है? पौरुष नहीं है? क्या वे भूल गईं हिराजीमती, चंदनबाला और सीता को, जिनके आत्म-बल के सामने पुरुष भी कांपा करते थे, जिन्होंने सत्य की साधना के लिए हजार-हजार कष्टों के सामने भी घुटने नहीं टेके, किसका साहस जो आँख उठाकर भी उन्हें देख सके? पर क्या किया जाए, सिंह का बच्चा भेड़ियों के साथ रहकर सिंहत्व को भूल जाता है, अन्यथा स्त्रियां को जगाने की आवश्यकता ही क्या थी? वे तो स्वयं संसार को जगाने का साहस रखती हैं।

अशिक्षा का परिणाम

स्त्रीशूद्रौ नाधीयताम् कहकर स्त्री को पढ़ने को मौलिक अधिकार से वंचित कर दिया गया। शिक्षा के अभाव में चेतना मूर्च्छित हो, इसमें क्या आश्चर्य है? इसीलिए आज स्त्रियों में जीवन-विकास की तड़फ नहीं है। युग के परिवर्तनों को उन्होंने अभी तक सुना ही नहीं है। रूढ़ियों से चिपके रहने में ही वे अपनी इज्जत मानती हैं और धार्मिक क्रिया-कांडों में भाग

लेनेवाली बहनों को अभी तक मंत्रों का और पर्दों का शुद्ध उच्चारण करना भी नहीं आता है। वे क्या अपना उत्थान करेंगी और क्या दूसरों को समझाएंगी? यह सब अशिक्षा का परिणाम है। मारवाड़ में मैंने देखाहूपति की मृत्यु हो जाने पर पत्नी को शोक-शोक में महीनों-महीनों तक घर के एक कोने में बैठकर गुजारने पड़ते हैं। उस छोटी-सी जगह में ही उसे सारे काम करने होते हैं। कई बहिनें बैठे-बैठे पंगु हो जाती हैं। उन्हें मैं संत-दर्शन के लिये कहता हूँ तो वे बाहर आने में भी डरती हैं। कोई आदमी देख न ले। मानो उन्हें कोई खा जाएगा। महीनों तक उन्हें रूढ़ि निभाने के लिये रोना पड़ता है; छाती और सिर कूटना पड़ता है। इस प्रकार की न जाने कितनी-कितनी रूढ़ियां स्त्रियों में भरी हुई हैं। उन सबको बतलाना भी मेरे लिए कठिन है। पर एक बात बहुत स्पष्ट है कि इन रूढ़ियों से चिपके रहकर बहिनें अपना बहुत बड़ा अहित करती हैं। जो अपना अहित करता है, उसे कैसे समझाया जाए?

पाप पर्दे में होता है

किसी समय विदेशी आक्रमणकारियों के नग्न अत्याचारों से बचने के लिए समाज ने पर्दा-प्रथा को अपनाया। किंतु आज पर्दे की क्या उपयोगिता है? उस समय पर्दे ने स्त्रियों को बचाया होगा, किंतु आज पर्दे से सुरक्षा नहीं रही है। चोर, लुच्चे उनके गहने दिन-दोपहर में लुचककर भाग जाते हैं। पर इस पर्दे के कारण बहिनें आगे चलनेवाले अपने ही आदमियों का कुछ कह नहीं सकतीं। उन्हें फटकारने का भी साहस नहीं कर पातीं। और पर्दा भी किससे है? माता, पिता और भाई, बहन के समान सास, श्वसुर और देवर, जेठ से। किंतु बाजार में फिरनेवालों अपरिचितों से नहीं। किसी ऐरे-गैरे नत्थू खैर ज्योतिषी को हाथ दिखाना हो तो कुछ लज्जा नहीं आती। चटकीले, भड़कीले वस्त्रों को पहनकर और सोने-चांदी के गहनों से लदकर बाजार में घूमते समय संकोच का अनुभव नहीं होता और सगे-संबंधियों को गालियां सुनाने में भी लज्जा मालूम नहीं होती। तब पर्दा न जाने कहां चला जाता है? इसी अंध कुरूड़ि पर प्रहार करते हुए स्वामीजी ने कहा है

नारी लाज करै घणी न दिखावे मुख न आंख ।

गाल्यां गावण बैठी जणा, जाणे कपड़ा दीधा न्हाख ॥

पंजाब और हरियाणा में मैंने देखा कि बहिनें व्याख्यान सुनने आती

हैं, तब पर्दा नहीं रखतीं पर घरों में रखती हैं। मैंने उनसे पूछाह 'ऐसा क्योंह?' इस पर वे बोलींह 'धर्म-स्थान में पर्दा किसलिएह? फिर यहां आने का अर्थ ही क्या हैह?' वस्तुतः लज्जा पर्दे में नहीं, अपितु आंखों में होती है। मुंह ढक लेने मात्र से कोई सती नहीं हो जाती। पाप पर्दे में अधिक होता है, खुले में संभवतः उतना नहीं होता। मैंने पर्दे की ओट में खोट को चलते बहुत देखा है। इस स्थिति में आंखों में लज्जा नहीं हो तो पर्दे से क्या होगाह? हमारी इन साध्वियों को देखिए। इनके मुंह पर पर्दा है क्याह? ये भी इसी स्त्री-समाज से निकलकर दीक्षित हुई हैं। इनमें कितना साहस और पुरुषार्थ हैह? हजारों मील पैदल भ्रमण करती हैं और हजारों लोगों को सन्मार्ग दिखाती हैं। आपकी तरह ये किसी पर भार नहीं हैं। ये अपने जीवन को स्वयं संभाल लेती हैं। अब आपके आदमी ही कहते हैं कि यात्रा में पांच विस्तरों को साथ ले जाना आसान है, किंतु एक स्त्री को ले जाना मुश्किल है। कितनी परवशता? इन निरर्थक रूढ़ियों ने स्त्रियों के जीवन को भारभूत बना दिया है। कहां हमारी ये साध्वियां, जो हजारों लोगों में निर्भीक होकर वक्तव्य दे सकती हैं और कहां आप जो खड़ी होकर नियम ग्रहण करने का भी साहस नहीं कर पाती हैं। आज यह भी समझ में नहीं आ रहा है कि विधवाओं को काले कपड़े क्यों पहनाए जाते हैंह? वे क्या अपराधिनी हैंह? क्या इसलिए कि पुरुषों के विदा होते समय कहीं अपशकुन न हो जाए ? खेद ! स्त्री-जाति का इतना तिरस्कार ! एक ओर वे ब्रह्मचर्य का पालन करती हैं और दूसरी ओर उनका अपशकुनह! सच है, जब मनुष्यों में विचारशीलता समाप्त हो जाती है, तब जीवन में जड़ता का साम्राज्य फैलता जाता है। अपने हाथों से ही अपना पतन होता है।

अस्तु, आज जागरण की बेला है। *तेरापंथ द्विशताब्दी समारोह* के पुण्य अवसर पर बहिनों को पीछे नहीं रहना है। संयम, सादगी और त्याग को अपनाकर जीवन को हलका बनाना है। रूढ़ियों के जीर्णप्रायः बंधनों को तोड़कर जीवन में नए मूल्यों की स्थापना करना है। *नया मोड़* का तात्पर्य जीवन को उच्छृंखल और अनुशासनहीन बनाना नहीं है। जीवन के लिए रूढ़ियां जितनी अनुपयोगी और भारभूत हैं, फैशन की बीमारी भी उतनी ही घातक है। बहुमूल्य वस्त्र, शृंगार-प्रसाधन की सामग्री और झूठी फैशन के नाम पर होनेवाला अपव्यय भी पुरुष को शोषण और संग्रह के लिए

बाध्य करता है। अतः यदि बहिनें रूढ़ियों को तोड़कर फैशन के चक्र में फंस गई तो यह *खाई से निकलकर कुएं में पड़ना* जैसी बात होगी। अतः बहिनों को न तो रूढ़ियों में जीवन को जड़ बनाना चाहिए और न फैशन के चक्कर में बोझिल, अपितु जीवन का सादगी, संयम और त्याग-भावना के आधार पर नव-निर्माण करना चाहिए। यह नया मोड़ है और इसी से महिला-जीवन और नारी-जाति का समुचित विकास संभव है।

४९. पर्दा कायरता का प्रतीक और असंयम का पोषक

समाज की मूल इकाई व्यक्ति है। अतः व्यक्ति-व्यक्ति का विकास ही समाज का विकास है। अध्यात्म एवं समाजहज्जीवन के दो पहलू हैं। किंतु जब सामाजिकता व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास में बाधास्वरूप बन जाती है, तब उसका प्रतिकार करना आवश्यक हो जाता है। इस विषय में चिरकाल से धर्मगुरु भी यथासमय मार्ग-दर्शन करते रहे हैं।

पर्दे का भी एक ऐसा ही प्रश्न है। किसी युग में सामयिक परिस्थितियों से प्रेरित होकर समाज ने इसे स्वीकार किया था। भले ही वे परिस्थितियां भयजनित हों अथवा स्वेच्छाजनित हों, लेकिन इस प्रथा को अधिकृत रूप से कोई मान्यता नहीं मिली, यह निर्विवाद है। जब तक इसका बाधक रूप सामने नहीं आया, वह पलती रही, यहां तक कि वह रूढ़ि बनकर नारी-सभ्यता का एक अभिन्न अंग भी समझी जाने लगी। किंतु आज युग की बदलती हुई परिस्थितियों में यह महिला-जीवन के चारित्रिक एवं नैतिक विकास में बहुत बड़ी दिवार बनकर खड़ी हो गई है।

तत्त्व-चिंतन की दृष्टि से पर्दा चक्षु-दर्शन का पल्लिमंथु (अवरोधक) ठहरता है। नेत्र की प्राप्ति चक्षुदर्शनावरणीय कर्म का क्षयोपशम भाव है। क्षयोपशम से प्राप्त नेत्रों पर पर्दा डालने का अर्थ क्या दर्शनावरणीय कर्म की उदीरणा नहीं होगी? सामायिक में *ईर्या समिति* का पालन आवश्यक है। अहिंसा की दृष्टि से *ईर्या समिति* का विधान है। पर्दानसीन महिलाएं क्या *ईर्या समिति* का पालन कर सकेंगी?

पर्दे के समर्थन में शील-रक्षा की भी दलील उपस्थिति की जाती है। किंतु यदि पर्दे के साथ शील-रक्षा का संबंध होता तो साध्वी-संघ में भी यह परंपरा होनी चाहिए थी। प्रतिकूल प्रसंग उपस्थित होने पर भी मानसिक विकारों पर नियंत्रण बनाए रखना व्रत की वास्तविकता एवं साहस का परिचय है। किंतु व्रत-पालन के लिए अपने-आपको चहारदिवारी

में बंद करना क्या कायरता नहीं है? आगमों में श्रावकों के लिए **अवंगुपदुवारा** विशेषण का उल्लेख मिलता है। तात्पर्य कि वे इतने निर्भय एवं दृढ़व्रती थे कि उनके गृहद्वार सब मतावलंबियों के लिए निर्बाध खुले थे। भीरुता व्रत पालने में बाधक है। पतिव्रता श्राविकाएं व्यर्थ की आशंकाओं से क्यों घबराती हैं? उन्हें निर्भय होना चाहिए। पतिव्रता नारियों ने तो अनेक-अनेक पतित पुरुषों का उद्धार किया है। अतः शील की रक्षा के लिए आत्मबल के विकास की अपेक्षा है, पर्दे की नहीं। आत्मबल का विकास ज्ञान एवं विवेक-जाग्रति पर निर्भर है। पर्दा ज्ञान एवं विवेक के विकास में स्पष्ट रूप में बाधक है।

उपर्युक्त चिंतन के पश्चात मैं स्पष्ट रूप से यह घोषित कर सकता हूँ कि पर्दा कायरता का प्रतीक व जीवन विकास में बाधक है। आगम की भाषा में वह असंयम का पृष्ठपोषक है एवं आधुनिक चिंतन की दृष्टि से नारी-जीवन के लिए अभिशाप है।

५०. कन्याएं क्रांति करें

जीवन बदलने का तात्पर्य

जीवन बदलने का यह अर्थ नहीं कि आपको घर छोड़ देना है या व्यापार-व्यवसाय को छोड़कर साधु बन जाना है। जीवन-परिवर्तन का अर्थ हैह्यमानवता की स्थापना। आज संसार में अनैतिकता का बोलबाला है। आप भी इस प्रवाह से बचे नहीं हैं। सोचें, सर्वोत्तम मानव-जीवन पाकर आपने उससे क्या लाभ उठायाह? माना, आप गृहस्थ हैं। व्यापार करना पड़ता है। पर मिलावट करना तो आवश्यक नहीं। भूख के लिए खेती करनी पड़ती है। खेती की पूरी प्रक्रिया और सुरक्षा में अनेक जीव-जंतु मर जाते हैं, किंतु निरपराध प्राणी की हत्या से तो बच सकते हैं। शिकार और मदिरा-मांस के बिना आप जी न सकें, ऐसी बात नहीं है। अतः मानवता के नाते इन बुराइयों से तो बचें। आप साधु नहीं हैं। अतः धन की आपको आवश्यकता है। धन से आपकी आजीविका चलती है। किंतु क्या धन अन्याय से ही मिलता हैह? न्याय से नहीं मिलताह? क्या आप आजीविका के असत साधनों को छोड़ने को भी तैयार नहीं हैंह?

क्या अपनी लड़कियों को भी पैसे लेकर विवाह में देना न्याय हैह? मानवता हैह? मांसाहारी से आप घृणा करते हैं, पर अपने ही मांस को बेचकर धन खा जाते हैं। क्या आपमें धन कमाने की क्षमता नहीं है, जो लड़कियों का पैसा लेते हैंह? क्या आप दो हाथों से एक पेट भी नहीं भर सकतेह? क्या आपको अपने भाग्य पर भी भरोसा नहीं है, जो लड़के-लड़कियों की भी बोली लगाते हैंह? क्या वे पशु हैंह? क्या कन्याएं बेचने के लिए मिली हैंह? समाज की इस घृणित प्रथा पर मुझे अत्यंत दुःख होता है, पीड़ा होती है। इस प्रकार कन्या-विक्रय करके पेट भरनेवालों ने धर्म के मर्म को क्या समझाह?

मैं कन्याओं से भी कहना चाहता हूं कि उन्हें अब क्रांति करनी

पड़ेगी। वे अपने माता-पिताओं से साफ-साफ क्यों नहीं कह देतीं कि हमें सौदा करके बेचना बंद करें? हमें बेचा गया तो हम विवाह नहीं करेंगी। आजीवन ब्रह्मचारिणी रहकर अपना जीवन बिताएंगी। बिककर न तो हमें हमारा जीवन बनाना है और न माता-पिताओं पर भार बनकर जीना है। लड़कियों के ऐसे क्रांतिकारी कदम से ही महिलाओं और पुरुषों की आंखें खुलेंगी। इसीलिए अणुव्रत-आंदोलन कहता है विवाह-संबंध के प्रसंग में ठहराव मत करो। धार्मिक कहलानेवाले इस व्रत का हार्द समझें और आज से ही इस अमानवीय प्रथा को तिलांजलि दे दें। तभी मानवता का पुनः घर-घर में प्रसार होगा और जन-जन में न्याय नीति के प्रति विश्वास जागेगा।

नादेस्मा

८ मई १९६०

५१. साधना : क्याह? किसके लिएह?

हम सब मोक्ष के साधक हैं। मोक्ष-प्राप्ति हमारा चरम साध्य है। श्रावक-श्राविकाएं भले साधु-साध्वियों की तरह कठिन साधना नहीं कर सकते, तथापि उनका चरम लक्ष्य तो मोक्ष-प्राप्ति ही है। पर साधना के संदर्भ में एक बात बहुत अच्छे ढंग से समझ लेने की है। हमें साध्य की प्राप्ति अपनी साधना के द्वारा ही हो सकेगी। दूसरा तो निमित्त मात्र बन सकता है। इस परिप्रेक्ष्य में हर व्यक्ति को स्वयं के जीवन पर दृष्टिपात करना चाहिए। उसको इस बात पर गहराई से ध्यान देना चाहिए कि मेरे विचार कैसे हैंह? मेरा आचार और व्यवहार कैसा हैह? साधक व्यक्ति के विचार सात्त्विक होने चाहिए, ऊंचे होने चाहिए। उसका आचार निर्मल होना चाहिए तथा व्यवहार शुद्ध होना चाहिए। मैं मानता हूं कि इन तीनों स्थितियों के लिए मर्यादा ही जीवन का सच्चा धन है। आप देखें, हमारे तेरापंथ धर्मसंघ में साधु-साध्वियों की संयम-साधना मर्यादा से ही आरक्षित/सुरक्षित है।

मर्यादामय जीवन के लिए धर्मसंघ के हर एक सदस्य को आचार्य, प्ररूपणा तथा सामाचारीहइन तीन बिंदुओं पर अपना ध्यान केंद्रित करना आवश्यक है। जिस व्यक्ति ने इन तीनों की सम्यक आराधना कर ली, मानना चाहिए कि उसका जीवन मर्यादामय बन गया, वह मर्यादा से कवचित्त हो गया। फिर कोई भी उसका बाल भी बांका नहीं कर सकता।

भगवान महावीर ने आत्म-नियंत्रण की बात कही, आत्मानुशासन का सूत्र दिया। आत्मार्थी साधक इस बात के लिए सदैव जागरूक रहे कि उस पर बाह्य नियंत्रण कम-से-कम आए, वह स्वयं अपना नियंत्रण करना सीखे, आत्मानुशासी बनकर रहे। ऐसा करके ही वह अपनी साधना में सफल हो सकता है। मैं मानता हूं, जिस साधक ने इस एक सूत्र को आत्मसात कर लिया, उसने साधना का बहुत बड़ा रहस्य जान लिया।

साधना के संदर्भ में एक बात और स्पष्ट कर देना अत्यंत आवश्यक समझता हूं। बहुत-से लोगों की ऐसी अवधारणा है कि साधना मात्र योगियों के लिए है। पर मेरा चिंतन इससे भिन्न है। साधना मात्र योगियों के लिए क्यों, उन सब लोगों के लिए है, जो शांति से जीना चाहते हैं। शांति से जीना कौन नहीं चाहता? शांति तो हर जीवन की चाह है। ऐसी स्थिति में कहना चाहिए कि साधना हर व्यक्ति के लिए आवश्यक है। अपेक्षा है, हर व्यक्ति इस यथार्थ से परिचित हो।

सरदारशहर

१८ फरवरी १९६०

५२. साधना में निखार कैसे आए?

आज चतुर्दशी है। चतुर्दशी के दिन हमारे यहां हाजरी का कार्यक्रम रहता है। हाजरी में साधु-साध्वियों की उपस्थिति में उनकी मर्यादाएं परिषद के बीच सुनाई जाती हैं। साधु-साधवियां उपस्थित हैं। उनकी साधना में और अधिक निखार आए, इस दृष्टि से मैं उनसे कुछ बातें कहना चाहता हूं।

आत्महित की साधना

दशवैकालिक सूत्र में कहा गया है

कोहं माणं च मायं च, लोभं च पाववह्णं ।

वमे चत्तारि दोसे उ, इच्छंतो हियमप्पणो ॥

अर्थात् क्रोध, मान, माया और लोभह्वये चारों दोष हैं और पाप को बढ़ावा देनेवाले हैं। अपना आत्महित चाहनेवाले साधक को इन चारों को छोड़ना चाहिए। इस बात को प्रकारांतर से इस रूप में भी कहा जा सकता है कि क्रोध, मान आदि को छोड़नेवाला आत्महित का साधक है और इन्हें छोड़नेवाला आत्महित का बाधक। मैं साधु-साध्वियों से विशेष बलपूर्वक कहना चाहता हूं कि यदि उन्हें स्वाध्याय, ध्यान आदि के क्षेत्र में आगे बढ़ना है, विशेष साधना करनी है तो वे इन्हें क्रोध आदि को छोड़ने का सलक्ष्य प्रयास करें। उन्हें यह बात बहुत गहराई से समझ लेनी चाहिए कि इनको नियंत्रित किए बिना जीवन का सुधार संभव नहीं है। मैं मानता हूं, जन- जीवन को सुधारना साधु-साध्वियों का काम है। पर अहम प्रश्न तो यह है कि स्वयं का सुधार किए बिना दूसरों का सुधार करना कैसे संभव हो सकेगा? इसलिए जरूरी है कि वे पहले स्वयं के जीवन के परिष्कार की ओर ध्यान दें। उन्हें यह बात गहराई से समझ लेनी चाहिए कि दूसरों पर प्रभाव उसी का पड़ता है, जिसका स्वयं का जीवन जाग्रत है। मैं साधु-साध्वियों से पूछना चाहता हूं कि जब वे बड़े-

से-बड़े कष्टों में भी नहीं घबराते, फिर क्रोध, मान आदि के समक्ष क्यों झुक जाते हैं? क्या यह उनके लिए एक गंभीर चिंतन का विषय नहीं है?

सदा सत्प्रवृत्त रहें

साधु-साध्वियों को सत्प्रवृत्त बने रहने का लक्ष्य बनाकर रखना चाहिए। निठल्लापन कोई काम का तत्त्व नहीं। *खाली दिमाग शैतान का घर है*। उक्ति सचमुच ही बहुत महत्त्वपूर्ण है, एक गहरे सत्य का उद्घाटन करनेवाली है। साधु-साध्वियों को इसके आशय को आत्मसात करते हुए स्वयं को स्वाध्याय, ध्यान, अध्ययन, अध्यापन, सेवा आदि में से किसी-न-किसी सत्प्रवृत्ति में अवश्य लगाकर रखना चाहिए।

अपेक्षित है जिज्ञासु वृत्ति

ज्ञान-प्राप्ति के लिए प्रत्येक साधु-साध्वी को प्रयत्नशील रहना चाहिए। यह तभी संभव है, जब वृत्ति जिज्ञासु हो। ज्ञान अनंत है, इसलिए जब तक व्यक्ति केवलज्ञानी (पूर्ण ज्ञानी) नहीं बन जाता, तब तक उसके लिए नया जानने का अवकाश सदा बना ही रहता है।

साधु-साध्वियों को लक्ष्य करके मैंने कुछ बातें कही हैं। वे इन पर गंभीरता से चिंतन-मनन करके इन्हें जीवनगत बनाएं। इससे उनकी साधना में एक नया निखार आएगा।

राजसमंद

३० जुलाई १९६०

५३. संकल्प में अचिंत्य शक्ति होती है

कहां है क्रिया-सिद्धि ?

संकल्प एक अद्वितीय शक्ति का प्रेरक है। उसके सहारे कठिन-से-कठिन कार्य भी आसान हो जाता है। राम की संकल्प-शक्ति ने लंका को जीता, राक्षसों की विशाल सेना का दमन किया। वनवास में सैन्य शक्ति से दूर होते हुए भी उन्होंने एक बड़ी सेना खड़ी की और अपने लक्ष्य की दिशा में प्रयाण किया। वस्तुतः क्रिया-सिद्धि जो है, वह सत्त्व में है, संकल्प में है।

आप अपने देश का ही उदाहरण लीजिए। क्या ब्रिटिश साम्राज्य की विशाल फौज से टक्कर लेकर सैकड़ों वर्षों की गुलामी से मुक्ति पाई जा सकती थी? पर संकल्प ने यह चमत्कार कर दिखलाया। कुछेक व्यक्तियों के संकल्प ने स्वाधीनता-प्राप्ति के स्वप्न को साकार कर दिया। फिर वह भी हिंसा से नहीं, बल्कि अहिंसा से। मूलतः इसके पीछे एक दुबले-पतले पर महान व्यक्ति का फौलादी संकल्प था। अपने इस संकल्प के बल पर उसने संसार को यह प्रत्यक्ष दिखा दिया कि अहिंसा के सामूहिक प्रयोग से स्वतंत्रता हासिल की जा सकती है तथा हिंसा की बड़ी-से-बड़ी ताकत झुक सकती है। यह कहने में कोई कठिनाई नहीं कि इतिहास में यह एक अनुपम उदाहरण है। यह अलग बात है कि आजादी की प्राप्ति के बाद आज देश में क्या हो रहा है। निस्संदेह राष्ट्र-नेता तथा प्रशासक स्वाधीनता-संग्राम के समय अपनाए गए अहिंसा के सूत्र को भूल रहे हैं। क्या वे इस बिंदु को केन्द्र में रखकर अपना आत्म-निरीक्षण करेंगे?

यह संकल्प का ही तो बल था कि आचार्य भिक्षु मात्र पांच-सात संतों की टोली के साथ एक महान धर्मक्रांति का अभियान प्रारंभ करने का साहसिक निर्णय ले सके। उनके उस साहसिक निर्णय की फलश्रुतिह *तेरापंथ* आज अहिंसात्मक लक्ष्य और साधना-प्रधान जीवन की एक महान शक्ति बन गया है, और जन-जन के कल्याण एवं नैतिक उत्थान के लिए

वह प्रयत्नशील है।

यहां आकर हलका हो गया हूं

बंधुओह! बहिनोह! मेवाड़ पहुंचने का मेरा भी एक संकल्प था, दृढ़ संकल्प था। अन्यथा कहां तो कलकत्ता और कहां मेवाड़हारावली की घाटियांह! किंतु लगभग सोलह सौ मील (लगभग छब्बीस सौ कि. मी.) की पद-यात्रा भी इस संकल्प के कारण मेरे लिए सहज बन गई। आप देखें कलकत्ता से प्रस्थान करने के पश्चात लगभग पांच माह की इस अवधि में बीदासर तथा एक-दो अन्य क्षेत्रों की बात छोड़कर कहीं भी हमने लंबा प्रवास नहीं किया। प्रतिदिन सोलह-अठारह मील की पदयात्रा करके भी रात्रि-विश्राम के बाद प्रातः मैं पुनः उतना ही चलने की स्फूर्ति अनुभव करता रहा। इस क्रम से चलता हुआ मैं आज मेवाड़ के सायरा क्षेत्र में पहुंचकर अत्यंत आत्मतोष एवं प्रसन्नता का अनुभव कर रहा हूं। मुझे ऐसी अनुभूति हो रही है कि मेरा संकल्प फलीभूत हो रहा है। इसीलिए मैंने हीरालालजी कोठारी से कहा था कि यहां आकर मैं हलका हो गया हूं। हालांकि मुझे अपने लक्ष्य (केलवा, राजनगर) तक पहुंचना है।

मेवाड़ तेरापंथ की जन्मभूमि है

बंधुओह! बहिनोह! मेवाड़ तेरापंथ की जन्मभूमि है, आदि-भूमि है। यहीं से तेरापंथ का इतिहास प्रारंभ हुआ है। यहां के निवासियों को इस बात का सात्त्विक गर्व होना चाहिए कि यहां से प्रज्वलित मशाल का प्रकाश आज चारों ओर फैल रहा है। धर्म-प्रचारार्थ आज मुझे अधिक प्रदेशों में पर्यटन करना पड़ रहा है। लेकिन मैं पूछना चाहता हूं कि प्रदेश-प्रदेश में संघ की जो प्रभावना हो रही है, वह क्या मेवाड़वासियों को गौरव की अनुभूति करवानेवाली बात नहीं हैह? मेवाड़-प्रदेश तेरापंथ के साधु-साध्वियों का प्रमुख विहार-क्षेत्र है। इसके बावजूद संघ-नायक के पदार्पण को लेकर यहां जो उत्सुकता प्रकट हुई, वह अस्वाभाविक तो है ही नहीं, बल्कि घनीभूत श्रद्धा और आंतरिक उल्लास की परिचायिका है। वैसे मैं जहां भी जाता हूं, वहां जन्मभूमि के संदेश को ही फैलाता हूं। भला जन्मभूमि किसे अच्छी नहीं लगतीह?

मेवाड़वासियों से अपेक्षा

मेवाड़ के प्रवेश-द्वार सायरा में हमारा प्रथम स्वागत हुआ। पर मैं यहां स्वागत के लिए तो नहीं आया हूं। मेरी चाह है कि मेवाड़ के लोगों

में जैसी श्रद्धा है, उसी के अनुरूप उनका आंतरिक जीवन भी बने। मेवाड़ के भाई-बहिन धर्म के मौलिक आधार से दूर रहें, बाह्याचार में फंसे रहें, सामाजिक कुर्रुडियों में जकड़े रहें तथा अपने पारिवारिक तथा व्यावहारिक जीवन को स्वस्थ और उन्नत न कर सकें तो मैं इस स्वागत को वास्तविक स्वागत नहीं मानूंगा। मैं समस्त मेवाड़ के क्षेत्रों के श्रावक-श्राविकाओं को इस बात के लिए आह्वान करता हूँ कि वे अपने पारिवारिक, सामाजिक एवं व्यावहारिक जीवन का एक आदर्श प्रस्तुत करें, अपने हैं। उन्हें जीवन-निर्माण और आत्मोदय की दृष्टि से जागरूक बनें। अणुव्रत के सामूहिक प्रयोग की ओर गतिशील हों। ऐसा करके ही वे अपनी श्रद्धा और जीवन में एकात्म स्थापित करने में सफल हो सकेंगे।

एक समय था, जब मोटा खाना, मोटा पहनना और श्रमप्रधान जीवन-शैली मेवाड़वासियों की पहचान थी। सादगी उनके जीवन का आदर्श था। पर लगता है, मेवाड़ अपनी यह पहचान खो रहा है। मेवाड़वासी सादा जीवन के अपने आदर्श को भूलते हुए-से नजर आ रहे हैं। लोक-जीवन अनेक प्रकार की रूढियों और अंधविश्वासों से जकड़ रहा है। जन-जीवन में रही सहज त्याग की भावना लुप्त हो रही है। उसके स्थान पर स्वार्थ-वृत्ति प्रभावी बन रही है।

यहां की बहिनों को देखता हूँ तो बड़ा आश्चर्य होता है कि इस विकास के युग में भी वे घोर बंधनों में जकड़ी हुई हैं। निरक्षरता या अशिक्षा उनके लिए एक बड़ा अभिशाप सिद्ध हो रही है। विधवा बहिनों के काले वस्त्र भी किसी बड़े अभिशाप से कम नहीं हैं। उनको पहनने के कारण विधवा बहिनें अपशकुन देने की अपराधी मानी जाती हैं। बहिनों के लिए यह कैसी दुर्भाग्यपूर्ण और हास्यास्पद स्थिति हैह!

अणुव्रत का आह्वान

अणुव्रत संयम और सादगी की बात कहता है। कुर्रुडियों एवं अंधविश्वास को छोड़ने की अभिप्रेरणा देता है। एक शब्द में कहा जाए तो जीवन को हलका बनाने का आह्वान करता है। मेरी दृष्टि में जीवन को हलका बनाना सुख, शांति और स्वस्थता का तो आधार है ही, आत्म-शुद्धि का भी मौलिक सूत्र है, धार्मिक बनने का प्रशस्त पथ है। मैं मेवाड़ के भाई-बहिनों से कहना चाहता हूँ कि वे अणुव्रत को अपनाकर अपने जीवन की चालू धारा को मोड़ें, सादगी और संयम को जीवनगत बनाकर

सच्ची धर्मश्रद्धा का परिचय दें। बहिर्ने तड़क-भड़कवाली वेष-भूषा और अधिक गहनों का व्यामोह छोड़कर सात्त्विकता की दिशा में गति करें। धर्म-ज्ञान के द्वारा अपनी विवेक-चेतना को जगाएं। इससे नारी-जीवन की उन्नति का मार्ग स्वयं प्रशस्त हो जाएगा।

मेवाड़-प्रवेश के इस अवसर पर आप लोगों से एक बात विशेष रूप से कहना चाहता हूँ। आप धर्म के सच्चे उपासक बनें। आप को खयाल रहना चाहिए कि आप भगवान महावीर के अनुयायी श्रावक हैं। भगवान महावीर से आपको समन्वय का महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त मिला है। इस सिद्धान्त को व्यवहारगत बनाकर आप लोग विभिन्न संप्रदायों के बीच बाहरी/ऊपरी बातों में भेद रहते हुए भी आध्यात्मिकता एवं धर्म के मौलिक तत्त्वों की दृष्टि से अभेद के दर्शन कर सकते हैं। कलकत्ता कोलकाता से मैं यहां पहुंचा हूँ। मार्ग के अनेक क्षेत्रों में विभिन्न संप्रदायों के लोग मिले। उनमें आत्मीयता, सौहार्द एवं नैकट्य देखने में आया। अनेक जगह पर लोगों ने जिस सहज भाव से स्वागत किया, उसे विस्मृत नहीं किया जा सकता। मैं सभी से विशेष बलपूर्वक कहना चाहता हूँ कि सांप्रदायिक कट्टरता एवं उपासनापरक ऊपरी भेदों को गौणकर आंतरिक विवेक को जगाने का प्रयास किया जाए। ऐसा करके ही धर्म के मूलभूत लक्ष्य की दिशा में अग्रसर हुआ जा सकता है।

तेरापंथ की ऐतिहासिक द्विशताब्दी मनाने के लिए हम समुत्सुक हैं। यह हमारे और आपके जीवन में अपूर्व अवसर है। भविष्य में भी यह अवसर कभी आनेवाला नहीं है। इस पुण्य अवसर पर यदि हम तेरापंथ धर्मसंघ एवं समाज के गौरव के अनुकूल कोई क्रांतिकारी नया मोड़ ले सके तो मैं अपने संकल्प की सार्थकता समझूंगा। ठीक ऐसी ही अपेक्षा मैं इस मेवाड़ भूमि के वासियों से भी करता हूँ। आशा है, आप मेरे आह्वान का सकारात्मक उत्तर देंगे।

सायरा

९ मई १९६०

५४. श्रद्धा और तर्क का समन्वय हो

श्रद्धा और तर्क जीवन के दो पहलू हैं। जीवन में दोनों की अपेक्षा है। व्यावहारिक जीवन में भी न केवल श्रद्धा काम देती है और न केवल तर्क। दोनों का समन्वित रूप जीवन को समुन्नत बनाने में सहायक होता है। अतः तर्क के साथ श्रद्धा की भूमिका होनी चाहिए तथा श्रद्धा भी तर्क की कसौटी पर कसी हुई होनी चाहिए।

आचार्य भिक्षु के जीवन में श्रद्धा और तर्क का अद्भुत समन्वय था। फलतः उनके प्रत्येक चिंतन में अनाग्रह की पुट रही थी। वे किसी भी चिंतन को लेकर आग्रही नहीं बने। उनके चिंतन-मनन का द्वार प्रतिक्षण खुला रहता था। उन्होंने अपनी कृतियों में जगह-जगह यह उल्लेख किया है कि मुझे ऐसा लगा, निर्दोष लगा, इसलिए मैंने ऐसा निरूपण किया है। भविष्य में यदि किसी अधिकारी को दोष प्रतीत हो तो उसमें वह परिवर्तन कर दे। उनके इन अनाग्रहपूर्ण विचारों को यदि हम आग्रही बनकर कुंठित करते हैं तो क्या यह उनके प्रति न्याय होगा? अनेक प्रश्न उनके सामने आए। प्रत्येक प्रश्न को उन्होंने युक्तिपूर्वक सुलझाने का प्रयत्न किया। जैसेहकिवाड़ खोलने का प्रश्न उनके सामने आया। साधु को किवाड़ खोलना और बंद करना चाहिए या नहीं? इस पर उनका गहरा चिंतन चला। उन्होंने समाधान किया कि बड़े किवाड़ों में जीव-जंतु नहीं देखें जा सकते, इसलिए उन्हें खोलना दोष हो सकता है। पर छोटे किवाड़ों के प्रतिलेखना हो सकती है। अतः उन्हें खोलने में दोष की संभावना नहीं। इस समाधान के आधार पर छोटे किवाड़ खोले गए। इस निर्णय के साथ ही उन्होंने यह भी कहा कि मुझे ऐसा करने में दोष नहीं लगता। किंतु उत्तरवर्ती किसी अधिकारी को यदि इसमें दोष की संभावना लगे तो वह इस परंपरा को कर दे। उनका यह विचार उन्हीं की भाषा में देखिए

मौने तो किवाड्याह रो दोष न भ्यासै , देखी नै सुध व्यवहार।

जो निसंक दोष किवाड्या में जाणो तो मत वेहरज्यो लिगारा ॥

उस समय के किवाड़ चूलियावाले होते थे। चूलियावाले बड़े किवाड़ों को बंद करते समय उनके चूलियों के छेदों में जीव-जंतुओं का देखना संभव नहीं था। इसलिए उन्हें खोलने व बंद करने का निषेध किया गया, पर आज की स्थिति कुछ और है। आजकल प्रायः भिन्न प्रकार के किवाड़ होते हैं—कब्जेवाले, स्प्रिंगवाले, कीलवाले आदि-आदि। इनकी स्थिति चूलियावाले किवाड़ों से भिन्न है। एक किवाड़ तो ऐसा भी देखने में आया है, जो खोलने से पलंग बन जाता है, मोड़ने से आरामकुर्सी का काम देता है और खड़ा करने पर वह पुनः किवाड़ बन जाता है। इन बहुमुखी प्रकारों को देखते हुए कपाट फिर चिंतन का विषय बन जाता है।

जातिवाद अतात्त्विक है

इसी प्रकार जातिवाद का विषय है। आए दिन यह प्रश्न आता रहता है कि जातिवाद के विषय में आपके क्या विचार हैं। इस विषय में, मैं क्या कहूँ, आगम-पुरुषों के विचार ही अधिक महत्त्वपूर्ण होंगे। आप्त-पुरुषों ने जातिवाद को कभी भी तात्त्विक नहीं माना। जातियाँ परिवर्तनशील हैं। समयानुक्रम से उनका उत्कर्ष और अपकर्ष होता रहता है। किसी समय जिन जातियों का उत्कर्ष था, आज उनका नामोल्लेख तक नहीं मिलता। आज जो जातियाँ अस्तित्व में हैं, वे प्राचीन इतिहास में बहुत कम मिलती हैं। किसी को जाति से ऊँच या नीच मानना तात्त्विक नहीं है। तत्त्व यह है कि व्यक्ति का अंकन आचरणों से हो। आज बहुत-से व्यक्ति जाति से उच्च हैं, पर ओर आचरणों से नीचे हैं। इसके विपरीत बहुत-से व्यक्ति ऐसे भी हैं, जो जाति से तो नीचे हैं, पर आचरणों से उच्च हैं। अतः अंकन का मापदंड जाति नहीं, कर्म होना चाहिए।

हरिजनों और मुसलमानों की भिक्षा ग्राह्य हैह?

एक प्रश्न यह भी आता है कि मुसलमानों और हरिजनों के घर से औषध और आहार आपको स्वीकार्य है या नहीं। इस विषय पर हमें चिंतन करना आवश्यक है। कहीं मुसलमान भाई का मेडिकल स्टोर है और वह साधुओं को औषध देना चाहता है। ऐसी स्थिति में वह क्यों न लिया जाए?

हरिजनों का आहार लिया जाए या नहीं, यह भी एक प्रश्न है। इस विषय में कोई सैद्धांतिक बाधा है, ऐसा मुझे नहीं लगता। आगमों में

जुगुप्सनीय अर्थात् घृणित कुलों के यहां से भिक्षा लेने का निषेध किया गया है। प्रश्न हो सकता है, क्या हरिजन जुगुप्सनीय नहीं हैं? उत्तर हो सकता है, नहीं हैं। भगवान महावीर ने किसी भी जाति को जुगुप्सनीय नहीं माना। हम किसी जाति को जुगुप्सनीय मानें, यह अधिकार हमें नहीं है। वर्तमान में उन व्यक्तियों को जुगुप्सनीय मानना चाहिए जिन्हें बौद्धिक और चिंतनशील व्यक्ति जुगुप्सनीय मानते हैं। भारतीय विधान किसी भी जाति को जुगुप्सनीय नहीं मानता। इस दृष्टि से जिसका रहन-सहन, खान-पान शुद्ध हो, उसका आहार लेने में क्या बाधा हो सकती है? मेरी इस स्पष्टता से घबराएं नहीं। क्षण-भर के लिए आप अपने दिमाग को बद्धमूल विचारों से मुक्त करके चिंतन-मनन करें। यदि आपकी वही बद्धमूल धारणा बनी रही तो आनेवाला युग आपको पूछेगा तक नहीं।

आज उन्हीं व्यक्तियों का महत्त्व है और युगीन सहयोग भी उन्हीं को प्राप्त है, जो बद्धमूल विचारों से ऊपर उठकर चिंतन-मननपूर्वक आगे आते हैं। यात्रा की एक घटना स्मृति में उभर रही है। हम जी.टी. रोड से आ रहे थे। एक मुसलमान भाई मेरे सम्मुख आकर बोला 'महात्माजी! मैं कुछ प्रश्न पूछ सकता हूँ?' मैंने कहा 'हां।' उसने कुछ प्रश्न पूछे। मैंने उनका समाधान दिया। समाधान पाकर उस भाई ने कहा 'महात्माजी! आपके विचार मुझे बहुत अच्छे लगे। मेरे विचार भी आपके विचारों के अनुरूप ही हैं। अच्छा, एक बात और पूछना चाहता हूँ 'क्या मैं चरण-स्पर्श कर सकता हूँ? इसमें आपको किसी प्रकार की बाधा तो नहीं है?' मैं समझ नहीं पाया, बाधा क्या हो सकती है? फिर उस भाई ने कहा 'स्पर्श से आपको नहाना तो नहीं पड़ेगा?' मैंने कहा 'मैं इतना कमजोर और संकीर्ण विचारोंवाला नहीं हूँ, जो किसी के स्पर्शमात्र से मुझे स्नान करना पड़े। मैं किसी को अस्पृश्य मानता ही नहीं। और मेरा अधिकार भी नहीं है कि मैं किसी को अस्पृश्य मानूं।' बंधुओ! मानव मानव को अस्पृश्य माने, यह मानव-समाज के लिए अभिशाप है, कलंक है। मुझे लगता है कि आज भी संतों के प्रति यह भावना बनी हुई है। इसे मैं जन-सामान्य की भूल नहीं मानता। भूल तथाकथित धार्मिक लोगों की मानता हूँ। अतः यह नितांत आवश्यक है कि धार्मिक लोग समय को पहचानें और वे रूढ़िगत विचारों के आवेश में आकर नहीं, अपितु चिंतनपूर्वक इस अस्पृश्यता को त्यागने के लिए संकल्पबद्ध हों।

५५. महावीर की सच्ची स्मृति

जन्म-जयंती मनाने की सार्थकता

आज भगवान महावीर की जन्म-जयंती मनाई जा रही है। *जन्म-जयंती* कोई बहुत प्राचीन शब्द नहीं है। परंतु थोड़ी गहराई से ध्यान देने से इसके तद्रूप एक शब्द **गंठिपडिलेहण** आता है। इसका अर्थ हैहृगंथि-प्रतिलेखन। मैं मानता हूँ, किसी भी महापुरुष की जन्म-जयंती जन-जन के लिए वार्षिक सिंहावलोकन की प्रबल पुण्य प्रेरणा होती है। अतः यदि हमें भगवान महावीर की जन्म-जयंती मनानी है, यानी गंथि-प्रतिलेखन करना है तो हमें उनके आदर्श जीवन से आत्मान्वेषण तथा आत्म-शोधन की पुण्य प्रेरणा लेनी चाहिए। ऐसा करने से उनकी जन्म-जयंती मनाने की सही सार्थकता प्रकट हो सकेगी।

वास्तविक तीर्थ

भगवान महावीर विराट व्यक्तित्व के धनी थे। धर्मचक्र का प्रवर्तन करके उन्होंने इस संसार को एक महान देन दी है। उन्होंने कहा कि एक अपेक्षा से वास्तविक तीर्थ मनुष्य है, प्राणी है। जिस मनुष्य में, प्राणी में त्याग और चरित्र है, वह तीर्थ है। इसी अपेक्षा से उन्होंने चार तीर्थ की प्रतिष्ठापना की। उन्होंने **सब्वे आभरणा भारा** का दर्शन देकर जन-जन को परिग्रह के अल्पीकरण एवं जीवन को हलका बनाए रखने की अभिप्रेरणा दी।

महावीर को कैसे मनाएं?

भगवान महावीर सम्यक ज्ञान, सम्यक दर्शन और सम्यक चरित्र की आराधना को मुक्ति का मार्ग बताया। भगवान की वाणी अन्तर का स्पर्श करे, जन-जन तक पहुंचे यह ज्ञान की आराधना है। मैं मानता हूँ, भगवान महावीर के सिद्धांतों और उपदेशों की उपयोगिता और प्रासंगिकता ढाई हजार वर्षों के बाद भी किंचित भी कम नहीं हुई है, बल्कि यह कहना

ज्यादा उचित है कि वर्तमान में उनकी उपयोगिता और प्रासंगिकता पूर्वपेक्षया अधिक बढ़ी है। महावीर के अनुयायियों का यह पुनीत कर्तव्य है कि उनकी वाणी के व्यापक प्रचार-प्रसार के लिए वे सुनियोजित ढंग से प्रयास करें।

सम्यक दर्शन से तात्पर्य है कि देव, गुरु और धर्म के प्रति व्यक्ति की आस्था यथार्थ होनी चाहिए। उसकी दृष्टि आग्रह से मुक्त यानी अनाग्रही रहे। यह दर्शन की आराधना है। यदि यह दृष्टि विकसित हो जाए तो जैन लोग बहुत बड़ा कार्य कर सकते हैं।

व्यक्ति का चारित्रिक विकास हो, जीवन सदाचार के सांचे में ढले, यह सम्यक चरित्र की आराधना है। मेरी दृष्टि में चरित्र आदमी के व्यक्तित्व की सही कसौटी है। जो व्यक्ति इस कसौटी पर खरा उतर जाता है, उसका व्यक्तित्व सहज रूप से दूसरों के लिए प्रेरणास्पद बन जाता है। वर्तमान के चरित्रहीनता के युग में तो चरित्र का विकास बहुत ही आवश्यक है।

महावीर-जयंती के प्रसंग पर उनकी विभिन्न रूपों में स्मृति की जाती है। पर मेरे विचार से तो सम्यक ज्ञान, सम्यक दर्शन और सम्यक चरित्र की आराधना और उपासना ही उनकी सबसे अच्छी और सच्ची स्मृति है।

बगड़ी (सुधरी नगर)

९ अप्रैल १९६०

५६. महावीर के सिद्धांत और जैन-एकता

महावीर शाश्वत सत्य के उद्गाता थे

भगवान महावीर इस संसार के एक दिव्य महापुरुष थे। वे शाश्वत सत्य के उद्गाता थे। यही तो कारण है कि ढाई हजार वर्षों के पश्चात भी उनके उपदेश-संदेश प्रासंगिक बने हुए हैं, बल्कि कहना चाहिए कि वर्तमान युग की परिस्थिति में उनकी प्रासंगिकता और अधिक बढ़ गई है। हम देख रहे हैं कि आज हिंसा उग्र रूप धारण किए हुए है। उसके कारण चारों ओर त्राहि-त्राहि मची हुई है। जन-जीवन संतप्त है। ऐसी स्थिति में संपूर्ण विश्व के लिए कोई त्राण बन सकता है, शरण बन सकता है, कल्याण का पथ प्रशस्त कर सकता है तो वह है महावीर का अहिंसा का सिद्धांत। हालांकि अहिंसा की बात सभी महापुरुषों ने कही है, पर महावीर ने इसका जैसा विस्तृत और सांगोपांग प्रतिपादन किया, वैसे अन्यत्र दुर्लभ है, अप्राप्त है।

धर्म का व्यापक स्वरूप

भगवान महावीर ने धर्म का सार्वभौम और सार्वजनीन रूप प्रस्तुत करके निस्संदेह संसार का बहुत भला किया है। उनकी दृष्टि में धर्म आकाश की तरह व्यापक है, पृथ्वी की तरह विशाल है। जातिवाद, वर्णवाद, वर्णवाद, लिंगवाद जैसी किसी भी संकीर्णता को उसमें तनिक भी स्थान नहीं है। उसकी शरण में आने का अधिकार सबको है, और सब काल में है। यही तो कारण है कि महावीर के शासन में विभिन्न जातियों और वर्गों के लोग समान रूप से दीक्षित हुए, सम्मिलित हुए। पर दुर्भाग्य से आज वही व्यापक धर्म जाति, वर्ण आदि की विभिन्न संकीर्णताओं में जकड़ दिया गया है। महावीर ने जिस धर्म को जीवन-व्यवहार और आचरण के तत्त्व के रूप में प्रतिपादित किया, जिसे धार्मिकजन के शुद्धाचार और उच्च विचार के रूप में प्रतिष्ठित किया, वही आज ग्रंथों,

पंथों और धर्मस्थानों में कैद हो गया है। इसका परिणाम हमारे सामने स्पष्ट है। धर्मस्थानों/उपासनास्थलों में क्रियाकांडों और उपासना में तन्मय बननेवाले आज के तथाकथित धार्मिक बाजार, ऑफिस और घर में कितने प्रामाणिक, नैतिक और सदाचारी रहते हैं, यह मुझे बताने की अपेक्षा नहीं। प्रामाणिकता, नैतिकता, ईमानदारी, मानवता से शून्य धार्मिकता सचमुच ही आज के धार्मिक जगत के लिए एक करारा व्यंग्य है। यही कारण है कि आज की शिक्षित नई पीढ़ी धर्म से कटती चली जा रही है। धार्मिकों के जीवन को देखकर उसके मन में धर्म के प्रति कोई आकर्षण का भाव नहीं पैदा हो रहा है।

धन से धर्म नहीं होता

आज लोग धन से धर्म खरीदना चाहते हैं और मोक्ष जाना चाहते हैं। यह महावीर की मान्यता के सर्वथा विपरीत है। महावीर ने संवर और निर्जराहइन दो तत्त्वों को धर्म के साधन के रूप में प्रतिपादित किया है। दूसरे शब्दों में धर्म का साधन तो त्याग है, संयम है, तप है। धन से सुख-सुविधाओं के साधन तो जुटाए जा सकते हैं, पर धर्म का उससे कोई संबंध नहीं है, दूर का भी संबंध नहीं है।

धर्म हृदय-परिवर्तन है

महावीर ने बताया कि डंडे के बल पर, यानी बलप्रयोग के द्वारा किसी भी व्यक्ति को धार्मिक नहीं बनाया जा सकता। उसका साधन तो हृदय-परिवर्तन ही है। यदि व्यक्ति का हृदय-परिवर्तित नहीं होता, दुष्प्रवृत्ति के प्रति उसके अंतर में ग्लानि की भावना पैदा नहीं होती, पर बलात उसे उस बुराई से रोक भी दिया जाता है तो उसे धर्म नहीं माना जा सकता। वह तो हिंसा है, अधर्म है। उदाहरणार्थ, एक व्यक्ति शराब पीता है। अब कोई मद्यपान से होनेवाले अहित की बात समझाकर उसे इस दुष्प्रवृत्ति से मुक्त बनाता है तो यह धर्म है। इस प्रक्रिया से मद्यपान की बुराई से उपरत होना उस व्यक्ति के लिए धार्मिकता की दिशा में गति करना है। पर समझाने के स्थान पर यदि कोई व्यक्ति जबरदस्ती उसके हाथ से शराब की बोतल छीनकर फोड़ देता है तो इसे धर्म नहीं माना जा सकता। भले वह व्यक्ति उस समय मद्यपान नहीं कर सका, पर जब उसके हृदय में उसके प्रति ग्लानि की भावना ही पैदा नहीं हुई, तब उसके शराब न पीने को धार्मिकता की दिशा में चरणन्यास नहीं माना जा सकता।

जैन-एकता के पांच सूत्र

महावीर के कुछ सिद्धांतों और उपदेशों की चर्चा मैंने की। मैं मानता हूँ, महावीर ने जिस धर्म का उपदेश दिया, उसे भले आज जैन-धर्म के रूप में पहचाना जाता है, पर अपने व्यापक स्वरूप में तो वह जन-धर्म ही है। लेकिन जैन लोगों की अपनी उदासी के कारण वह अब तक भी उस गौरव/प्रतिष्ठा का प्राप्त नहीं कर सका है। मेरा विश्वास है, यदि अब भी जैन लोग इसके लिए पूरा प्रयत्न करें तो वह जन-धर्म के रूप में प्रतिष्ठित हो सकता है। पर यह होगा तभी, जब जैन लोग छोटी-छोटी बातों को लेकर परस्पर लड़ना छोड़ेंगे और धर्म समन्वय की दिशा में अग्रसर होंगे। जैनों के विभिन्न संप्रदायों में परस्पर एकता एवं सद्भाव की दृष्टि से मैंने एक पंचसूत्री योजना प्रस्तुत की है।

- मंडनात्मक नीति बरती जाए। अपनी मान्यता का प्रतिपादन किया जाए, दूसरों पर मौखिक या लिखित आक्षेप न किया जाए।
- दूसरों के विचारों के प्रति सहिष्णुता रखी जाए।
- दूसरे संप्रदाय के साधु-साध्वियों के प्रति घृणा और तिरस्कार की भावना का प्रचार न किया जाए।
- संप्रदाय-परिवर्तन के लिए दबाव न डाला जाए। स्वेच्छा से कोई व्यक्ति संप्रदाय-परिवर्तन करे तो उसके साथ सामाजिक-बहिष्कार आदि के रूप में अवांछनीय व्यवहार न किया जाए।
- धर्म के सर्व-संप्रदायमान्य सिद्धांतों का संगठित रूप में प्रचार किया जाए।

सभी संप्रदाय के लोग इन पांचों सूत्रों पर गंभीरता से चिंतन करते हुए इन्हें आत्मसात करने का प्रयास करें। ऐसा करके ही हम जैन-धर्मावलंबी जैन-धर्म की उल्लेखनीय सेवा करने में सक्षम हो सकेंगे, महावीर के सच्चे अनुयायी बन सकेंगे।

सोजत सिटी

१७ अप्रैल १९६०

५७. अंतर का दीप जले

त्योहार किसी भी देश की सभ्यता और संस्कृति के प्रतीक होते हैं। भारत में त्योहारों की एक लंबी शृंखला है। अनेक तरह के त्योहार यहां मनाए जाते हैं। उन सबके के पीछे कुछ-न-कुछ सांस्कृतिक, धार्मिक, लौकिक पृष्ठभूमि अवश्य रही है। दीपावली भगवान महावीर का निर्वाण-दिवस है। लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्व आज के दिन जब उनका निर्वाण हुआ तो देवताओं ने प्रकाशमान रत्नदीपों के द्वारा तथा मनुष्यों ने स्नेह-परिपूरित मृण्मय प्रदीपों से ज्योति की थी। अमावस्या की वह काली रात्रि प्रकाश से जगमगा उठी थी। उसी परंपरा का निर्वाह करते हुए आज भी दीप जलाए जाते हैं, ज्योति की जाती है। ऐसा नहीं कि इस त्योहार को मात्र जैन लोग मनाते हैं, बल्कि जैनेतर लोग भी व्यापक स्तर पर इसे अपने-अपने ढंग से मनाते हैं, क्योंकि महावीर की तरह ही अन्य अनेक महापुरुषों का महत्त्वपूर्ण इतिहास भी इस दिन के साथ जुड़ा हुआ है।

सच्ची दीपावली

इस पर्व-दिन के अवसर पर लोग परंपरा का निर्वाह करते हुए दीप जलाते हैं, विभिन्न रूपों में ज्योति करते हैं, इसे मैं महत्त्व की बात नहीं समझता। महत्त्व की बात है अंतर का दीप जलाना, आत्म-ज्योति जलाना। आप इस यथार्थ को समझने का प्रयत्न करें कि जब तक मन-मंदिर सद्ज्ञान की ज्योति से ज्योतित नहीं होता है, तब तक मिट्टी के हजारों दीपक जलने के उपरांत भी अंधेरा ही है। उस स्थिति में घर में अंधेरा, जग में उजेली वाली कहावत चरित्रार्थ होती है। मैं देखता हूँ कि बहिनें दीपावली के अवसर पर अपने-अपने की घर सफाई करती हैं। पर क्या कभी वे अपने-अपने अंतर घर पर दृष्टिपात करती हैं? वह कितना स्वच्छ है, उसमें कितनी गंदगी भरी पड़ी है, इस बात पर ध्यान देती हैं? मैं नहीं समझता कि जब तक अपनी अंतरात्मा को स्वच्छ करने का लक्ष्य और प्रयत्न नहीं होगा, तब तक बाहर की स्वस्थता और सजावट की कितनी सार्थकता हो सकेगी। इसलिए बहिनों और भाइयों सभी से कहना

चाहता हूँ कि यदि सच्ची दीपावली मनाना है तो मिट्टी के दीप जलाने और बाहरी ज्योति से काम नहीं चलेगा। उसके लिए तो जीवन की ज्योति जल सके, ऐसा प्रयत्न करना आवश्यक है। प्रभु महावीर ने कहा है—**सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता ण हंतव्वा, ण अज्जावेयव्वा, ण परिघेतव्वा, ण परिवेयव्वा, ण उद्दवेयव्वा। एस धम्मे ध्रुवे णिइए सासए।** अर्थात् किसी भी प्राणी को न मारो, न अधीन बनाओ, न दास बनाओ, न परिताप दो और न प्राणों से वियोजित करो। यह धर्म ध्रुव, नित्य और शाश्वत है। भगवान महावीर की इस वाणी को आत्मसात करके जीवन की ज्योति को प्रकटाया जा सकता है। और जिस दिन ऐसा होगा, उस दिन ही सच्ची दिवाली मनाई जा सकेगी।

महापुरुष संप्रदायातीत होते हैं

प्रसंगवश एक बात स्पष्ट कर देना आवश्यक समझता हूँ। यद्यपि भगवान महावीर जैन-परंपरा के चौबीसवें तीर्थंकर हैं, पर उनकी वाणी, विचार और उपदेश मात्र जैनों के लिए नहीं हैं, बल्कि मनुष्यमात्र के लिए हैं, प्राणीमात्र के लिए हैं। और यह बात केवल महावीर पर नहीं, अपितु संसार के सभी महापुरुषों पर समान रूप से लागू होती है। हालांकि हर महापुरुष को किसी संप्रदाय या परंपरा की सीमाओं में रखने का प्रयत्न होता रहा है, आज भी हो रहा है। पर यह एक प्रकट यथार्थ है कि ऐसा कोई भी प्रयत्न न तो अतीत में सफल हुआ है और न आज, कल, परसों..... सफल हानेवाला है। इसका कारण भी बहुत स्पष्ट है। महापुरुषों के विराट व्यक्तित्व और उनके विचारों की व्यापकता के समक्ष किसी भी संप्रदाय की बड़े-से-बड़ी सीमाएं छोटी पड़ती हैं, बहुत छोटी पड़ती हैं। और बहुत सही तो यह है कि अपने सर्वहितकारी विचार और सर्वोदयी चिंतन के कारण ही वे महापुरुष की प्रतिष्ठा को प्राप्त करते हैं।

भगवान महावीर का जीवन क्षमा, दया, शील, त्याग, तपस्या एवं संयम का साकार निदर्शन है, सहिष्णुता का साकार उदाहरण है। आज उनके पुण्य निर्वाण-दिवस पर हम उनसे प्रेरणा लें और जीवन-शुद्धि का पथ अपनाएं, आत्मोदय की दिशा में गति करें। यह वास्तविक प्रकाश-दीप है। इसके अलौकिक प्रकाश से हमारे जीवन का कण-कण प्रभासित हो उठेगा। हमारे महावीर बनने का मार्ग प्रशस्त हो जाएगा। दिवालीह भगवान महावीर निर्वाण-दिवस मनाने की सार्थकता प्रकट हो जाएगी।

राजनगर १९ अक्टूबर १९६०

५८. आचार्य भिक्षु का अभिनिष्क्रमण*

अभिनिष्क्रमण का कारण

आज हमें सात्त्विक गर्व और प्रसन्नता है कि दो सौ वर्ष पूर्व के एक ऐतिहासिक अभिनिष्क्रमण का समारोह मनाने के लिए हम उपस्थित हैं। अभिनिष्क्रमण का अर्थ हैहनिकलना, किसी लक्ष्य के समीप जाना, प्रव्रजित होना। इतिहास बताता है कि गौतम बुद्ध का अभिनिष्क्रमण दो बार हुआ था। घर से निकलकर छह वर्ष तक वे अन्य साधुओं के साथ रहे। फिर दूसरी बार अभिनिष्क्रमण करके उन्होंने बोधि प्राप्त की। आचार्य भिक्षु ने भी दो बार अभिनिष्क्रमण किया। आठ वर्ष तक वे स्थानकवासी संप्रदाय में रहे। दूसरा अभिनिष्क्रमण इसी चैत्र शुक्ला नवमी को हुआ। उसका कारण थाहआचार-विचार का मतभेद। आचार-विचार के शैथिल्य से उनका मानस उद्वेलित हुआ। उन्होंने अपने विचार गुरु आचार्य रुघनाथजी के सम्मुख रखे। लगभग दो वर्षों तक परस्पर चर्चा और विचार-विनिमय चला। पर समाधान न हो पाने के कारण अंततः उन्हें अभिनिष्क्रमण करना पड़ा। यानी अभिनिष्क्रमण मतभेद को लेकर हुआ, मन-भेद को लेकर नहीं। उनके अनुयायी भी यह स्वीकार करते हैं कि गुरु-शिष्य में परस्पर बड़ा प्रेम था। यह भी माना जाता है कि आचार्य रुघनाथजी के उत्तराधिकारी के रूप में मुनि भीखणजी (आचार्य भिक्षु) का नाम लिया जाता था।

अभिनिष्क्रमण की तीव्र प्रतिक्रिया

चैत्र शुक्ला नवमी को अभिनिष्क्रमण हुआ। विलग होने पर उन्हें न तो रहने को स्थान मिला और न चलने को मार्ग ही। इसका कारण था कि शहर में यह घोषणा करवा दी गई कि कोई उन्हें रहने को स्थान न दे। यह घोषणा संभवतः इसलिए करवाई गई हो कि वे घबरा कर लौट आए। आगे का मार्ग इसलिए अवरुद्ध था कि भयंकर अंधड़ आ गया। दोनों ओर

*आचार्य भिक्षु अभिनिष्क्रमण द्विशताब्दी-समारोह में प्रदत्त प्रवचन

से अवरोध पाकर वे श्मशान की इस जैतसिंहजी की छत्री में ठहरे। संभवतः उन्होंने यह सोचा होगा कि एक दिन तो यहां आना ही है। अच्छा है, पहले ही परिचित हो लें।

जब यह पता चला कि भीखणजी छत्री में रुके हुए हैं, आचार्य रुघनाथजी वहां आए और बोलेह 'भीखणह! याद रखना, लोगों को पीछे लगा दूंगा।' भिक्षु स्वामी ने इसे गुरु का प्रथम आशीर्वाद माना। आचार्य रुघनाथजी ने आगे कहाह 'तुम कहां जाओगे? आगे थारो नै पीछो म्हारो। यानी आगे तुम और पीछे मैं।' स्वामीजी ने इसे दूसरा आशीर्वाद माना। आचार्य ने अपना अभिप्राय रखा। भिक्षु स्वामी ने अपनी प्रत्युत्पन्न मति से काम लिया।

विलग होने के समय भिक्षु स्वामी तेरह साधु थे। भिक्षु स्वामी चले और एक पंथ बन गया। लोगों ने उसको तेरापंथ नाम दिया। भिक्षु स्वामी ने उसे हे प्रभो! यह तेरापंथ के रूप में स्वीकार किया।

कठिनाइयों का पहाड़ टूट पड़ा

अभिनिष्क्रमण करते ही उन्हें जिन विपुल कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, उनका उल्लेख मैं मेरे शब्दों में नहीं, अपितु उनके ही शब्दों में करूं। उन्होंने हेमराजजी स्वामी को संबोधित करके कहा हैहम्हें उषाने छोड़ी निसर्या जद पांच वर्ष तो पूरे अन्न न मिल्यौ, घी चोपड़ तो कठे छै। कपड़ो कदाचित बासती मिलती १।) रूपीयारी जद भारमलजी कहता पछेवड़ी आपरे करो। जद हूं कहतो एक चोलपट्टो थारे करो एक चोलपट्टो म्हारे करो, आहार पांणी जाच कर सर्व साधु उजाड़ में परा जाता, रूख री छाया में आहार पांणी म्हैलता, अने आतापना लेता, आथण रा पाछा गांव में आंवता। इण रीते कष्ट भोगवता, कर्म काटता। म्है या बात न जानता म्हारो मारग जमसी। साधु-साध्वी यूं दीक्षा लेसी; अने श्रावक-श्राविका होसी। जाण्यो आतमा रा कारज सारस्यां मर पूरा देस्यां।

संगठन के सूत्र

आचार्य भिक्षु ने संगठन के लिए कुछ प्राणवान सूत्र दिएह

१. शिष्य-परंपरा का उन्मूलनहसभी शिष्य एक आचार्य के हों।
२. सम-सूत्रताहसमान कार्य-पद्धतिहएक मार्ग का अनुसरण हो।
३. अनुशासन।

क्रांतिकारी व्यक्तित्व

आचार्य भिक्षु के विराट व्यक्तित्व में क्रांति के बीज प्रारंभ से ही थे। गृहस्थ-अवस्था में जब वे ससुराल गए, तब भोजन के समय सालियां गालियां गाने लगीं।

उन्होंने कहाह 'यह कैसा स्वागतह! मैं तो भोजन करता हूं और ये गालियां देती हैं! फिर वे भी झूठीह! मैं जो वर्ण में ठीक हूं, उसे तो काला और काबरा बतलाती हैं तथा मेरा साला जो अंगहीन है, उसको अच्छा बतलाती हैं। ऐसी झूठी गालियां मैं नहीं सुनना चाहता।' और ऐसा कहते हुए वे भोजन अधूरा छोड़कर बीच में ही उठ खड़े हो गए।

परदे पर भी उन्होंने एक मार्मिक व्यंग्य किया हैह

नारी लाज करे घणी, न दिखावै मुख नै आंख।

गाल्यां गावण बैठी जणा, जाणे कपड़ा दीधा न्हाख ॥

उन्होंने वैचारिक क्रांति के कई महान सूत्र दिएह

१. सत क्रिया सबकी अच्छी है, भले हो वह सम्यग्दृष्टि की हो या मिथ्यादृष्टि की।
२. धर्म जीवन-शुद्धि का मार्ग है, वह आत्मा से होता है, धन से नहीं।
३. सबसे बड़ा दान अभयदान है। सबको अपने तुल्य समझा जाए और शोषण न किया जाए, यह दया है।

इस प्रकार उन्होंने युगानुकूल विचार-क्रांति की। पर उनके इन मौलिक और सारगर्भित तत्त्वों का लोगों ने सही अर्थ न लगाकर गलत प्रचार किया और उन्हें दान-दया का विरोधी माना। कहीं-कहीं उनके अनुयायियों ने भी उनके तत्त्वों को सही रूप में नहीं समझा और अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए उनके सिद्धांतों का दुरुपयोग भी किया।

तेरापंथ का विकास

तेरापंथ के विकास के चार महत्त्वपूर्ण सूत्र हैंह

१. शांति
२. सहिष्णुता
३. विरोध के लिए शक्ति व्यय न हो।

४. कार्य ही विरोध का उत्तर हो।

तेरापंथ अपने-आपमें इसीलिए विकासोन्मुख है कि इन सूत्रों को लेकर वह प्रतिदिन प्रगति के पथ पर है।

अभिनिष्क्रमण-समारोह के अवसर पर हम भिक्षु स्वामी के विचारों का शत-शत अभिनंदन करते हैं, स्वागत करते हैं और उन्हें फैलाने का संकल्प करते हैं।

बगड़ी (सुधरी नगर)

५ अप्रैल १९६०

५९. सार्वजनीन धर्म के प्रवक्ता आचार्य भिक्षु

महापुरुष कौन होता है?

आचार्य भिक्षु का जन्म इसी सिरियारी के पार्श्ववर्ती कंटालिया ग्राम में हुआ। ऐसा कहा जा सकता है कि कांटों से आच्छन्न प्रदेश में एक पुष्प खिला। ऐसा पुष्प, जिसने स्वयं के आत्मिक सौरभ से सुरभित होकर संसार को भी सुरभि बांटी। वस्तुतः महापुरुष वही तो होता है, जो स्वयं बोधि को प्राप्त करता है तथा संसार को बोध देता है। दूसरे शब्दों में जो स्वयं सत्पथ का पथिक होता है और जन-जन को वह पथ दिखाता है, उस पर चलने की अभिप्रेरणा देता है, उसे ही महापुरुष कहते हैं। इतिहास साक्षी है कि आचार्य भिक्षु ने ऐसा ही जीवन जिया। अपनी इसी प्रकृष्ट जीवन-शैली के कारण वे जन-जन के वंद्य और आराध्य बन गए।

लौकिक और लोकोत्तर धर्म को मिलाएं नहीं

आचार्य भिक्षु ने धर्म के क्षेत्र में अनेक अवदान दिए। उनके उन अवदानों को हम एक सफल धर्मक्रांति की संज्ञा दे सकते हैं। उन्होंने कहा कि धर्म के क्षेत्र में विवेक जाग्रत रहने की नितांत अपेक्षा है। लोगों के लिए गेहूं की उपयोगिता है, तो कंकर भी सर्वथा अनुपयोगी नहीं हैं। मकान आदि बनाने में उनका बहुत उपयोग है। वहां गेहूं काम नहीं आ सकते। बावजूद इसके, दोनों को मिला देना उचित नहीं है। वे अलग-अलग रहकर ही लोगों के लिए उपयोगी बनते हैं। मिला देने से वे न तो खाने के काम आ सकते हैं और न ही मकान बनाने में उनका कोई उपयोग हो सकता है। ठीक यही बात हिंसा और अहिंसा की है, भोग और त्याग की है। संसार में हिंसा भी चलती है और अहिंसा भी। भोग भी चलता है और त्याग भी। पर चलने के बावजूद दोनों की उपयोगिता एक सरीखी नहीं है, परिणाम एक जैसा नहीं है। हिंसा जहां बंधन का हेतु है, भव-भ्रमण का कारण है, वही अहिंसा निर्बंध की साधना है, मोक्ष

की आराधना है। इसी तरह जहां भोग जीवन की चंचलता है, वहीं त्याग जीवन का संबल है। उन्होंने बहुत स्पष्ट शब्दों में कहा कि संसार में लौकिक और लोकोत्तर दोनों प्रकार के धर्मों की उपयोगिता है। लौकिक धर्म परिवार, समाज और राष्ट्र की सुव्यवस्था के लिए अपेक्षित है और लोकोत्तर धर्म से आत्म-हित सधता है। पर लौकिक धर्म और लोकोत्तर धर्म दोनों को मिला देना भयंकर भूल है। इससे न उसका लौकिक हित सधता है और न आत्मिक ही। ये दोनों अलग-अलग रहकर ही व्यक्ति के लिए उपयोगी रह सकते हैं। इनका मिश्रित रूप न तो लौकिक धर्म के रूप में उपयोगी रहता है और न लोकोत्तर धर्म के रूप में। अपने इन विचारों के कारण आचार्य भिक्षु के समक्ष भयंकर संघर्ष की स्थिति बनी। और तो क्या, उन्हें रोटी, पानी, कपड़ा, मकान जैसी जीवन-यापन की अनिवार्य चीजों का भी जबरदस्त अभाव झेलना पड़ा। उन पर तरह-तरह के गलत आरोप लगाए गए। हालांकि उन्होंने जो कुछ कहा, वह सब महावीर की वाणी के आधार पर ही कहा, निराधार कुछ भी नहीं कहा। उसमें उनका स्वयं का कुछ भी नहीं था। उनकी तो मात्र महावीर की वाणी को देखने-परखने की अपनी पारदर्शी दृष्टि थी। पर इसके बावजूद उनके विचार सहजतया लोगों के गले नहीं उतरे और उसके परिणामस्वरूप प्रबल प्रतिरोध का वातावरण बना, यह एक ऐतिहासिक तथ्य है। फिर यह स्थिति भी मात्र कुछ दिनों के लिए नहीं, अपितु कुछ कमो-बेश आजीवन बनी रही। पर वे तो महापुरुष थे, महामनस्वी थे। अवरोधों, कठिनाइयों और संघर्षों की कब परवाह करनेवाले थे? सबको चीरते हुए आगे-से-आगे बढ़ते रहे।

धर्म सार्वजनीन है

आचार्य भिक्षु ने कहा कि धर्म सार्वभौम और सार्वजनीन तत्त्व है, इसलिए उस पर सबका समानाधिकार है। किसी भी जाति, वर्ण, वर्ग का व्यक्ति उसकी आराधना कर सकता है। उसे किसी जाति, वर्ण, वर्ग, संप्रदाय की सीमा में बांधना उसके सर्वव्यापी स्वरूप को संकुचित करने की नासमझी है। हालांकि किसी के चाहने और करने से वह कभी किसी भी सीमा में बंधता नहीं, समाता नहीं।

धर्म आत्म-शुद्धि का एकमात्र साधन है

धर्म के मौलिक स्वरूप की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा कि धर्म

आत्म-शुद्धि अथवा जीवन की पवित्रता का एकमात्र साधन है। उसका अन्य कोई भी विकल्प संसार में नहीं है। जो भी व्यक्ति जीवन की पवित्रता में विश्वास करता है, आत्मोदय के लक्ष्य को प्राप्त करना चाहता है, उसे धर्म के पथ पर आना ही होगा, उसकी शरण स्वीकार करनी ही होगी। अपनी इस गुणात्मकता के कारण किसी भी काल और किसी भी देश और परिवेश में उसकी प्रासंगिकता, उपयोगिता और उपादेयता स्वयं सिद्ध है।

रचनात्मक श्रद्धांजलि : सच्चा स्मरण

हम आचार्य भिक्षु के अनुयायी हैं। हमारा यह परम कर्तव्य है कि हम उनके क्रांत एवं **सर्वजनहिताय, सर्वजनसुखाय** विचारों को जन-जन तक पहुंचाएं और उसके गले उतारें। इस क्षेत्र में अपनी कमी और प्रमाद को हमें ऋजुतापूर्वक स्वीकार करना चाहिए, जिसके कारण कि उनके विचार अभी तक भी पूरे संसार तक नहीं पहुंच पाए हैं। इस कमी व प्रमाद को हमें मिटाना चाहिए और यथाशीघ्र सलक्ष्य मिटाना चाहिए। ऐसा करके ही हम उनके प्रति अपनी रचनात्मक श्रद्धांजलि समर्पित कर सकते हैं, उनका सही रूप में स्मरण कर सकते हैं।

सजगता की अपेक्षा

आज हम आचार्य भिक्षु के ऐतिहासिक समाधि-स्थल पर यह भव्य स्मृति-समारोह मना रहे हैं। सचमुच ही इस समाधि-स्थल पर उनकी स्मृति साकार हो रही है। मैं मानता हूं, आचार्य भिक्षु का यह समाधि-स्थल ऐतिहासिक परिपुष्टि की दृष्टि से निश्चित ही बहुत महत्वपूर्ण है, पर साथ ही एक सावधानी की भी नितांत अपेक्षा है। इसकी पूजा, अर्चना नहीं होनी चाहिए, कदापि नहीं होनी चाहिए। यह वर्जना अन्य समाधियों और ऐतिहासिक स्थलों के लिए भी रहनी चाहिए। मैं मानता हूं, यह वर्जना आचार्य भिक्षु एवं तेरापंथ की मौलिक विचार-धारा की सुरक्षा की दृष्टि से अत्यंत आवश्यक है। इस क्षेत्र में कहीं कोई प्रमाद ध्यान में आए तो मेरा ही नहीं, सभी दायित्वशील लोगों का कर्तव्य है कि वे अंगुलि-निर्देश करके उसको तत्काल समुचित ढंग से मिटाने का प्रयास करें। यह प्रयास आचार्य भिक्षु के प्रति हमारे सच्चे समर्पण को उजागर करेगा।

सिरियारी

२१ अप्रैल १९६०

६०. आचार्य भिक्षु को कैसे मनाएं ?

आज हम कंटालिया ग्राम आए हैं। कंटालिया आचार्य भिक्षु की जन्म-भूमि है और आचार्य भिक्षु तेरापंथ के प्रणेता हैं। इस अपेक्षा से कंटालिया का संबंध तेरापंथ धर्मसंघ के साथ स्वतः जुड़ गया है। और इस कारण इसके नाम को संसार में एक विशिष्ट पहचान मिली है। जिस भूमि में जन्म लेकर आचार्य भिक्षु ने सत्य का सिंहनाद किया, लोगों को सत्य का प्रशस्त पथ बताया, वह भूमि अपने-आपमें महत्त्वपूर्ण हो गई है, ऐसा कहना किंचित भी अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं है। इस भूमि के वासियों को इस बात का सात्त्विक गौरव होना चाहिए कि उनके गांव में एक दिव्य महापुरुष ने जन्म लिया था। उनका पुण्य नाम किसी भी विशिष्ट मंत्र से कम प्रभावशाली नहीं है। यहां के लोगों को यह पुनीत कर्तव्य है कि वे माला गुनने के रूप में उनका पुण्य स्मरण करें और उनकी पवित्र आत्मा के साथ इकतारी स्थापित करने का प्रयास करें। यह अनुष्ठान उनके आध्यात्मिक अभ्युदय में योगभूत बनेगा।

स्मारक पूजनीय-अर्चनीय नहीं

मैं देख रहा हूं कि लोग महापुरुषों की स्मृति को दीर्घकाल तक सुरक्षित रखने के लिए स्थान-स्थान पर उनके स्मृति-स्तंभ, स्मृति-चिह्न आदि खड़े कर रहे हैं। ऐसा नहीं कि इस प्रकार की प्रवृत्ति वर्तमान में ही चालू हुई है, अतीत में भी ऐसा होता रहा है। इस संदर्भ में मेरा चिंतन है कि ये स्मृति-स्तंभ, स्मारक आदि वास्तविक इतिहास को सुरक्षित रखने की दृष्टि से बेशक महत्त्वपूर्ण है, पर इनकी पूजा-अर्चना आदि होना सर्वथा अवांछनीय और अनुचित है। इसलिए इस दृष्टि से पूरी-पूरी सावधानी बरतने की अपेक्षा है।

सच्ची स्मृति

वैसे गहराई से देखा जाए तो उनके गुणों, विशेषताओं, विचारों एवं

उपदेशों को अपने जीवन में आत्मसात करना ही उनकी वास्वतविक स्मृति है। उनके सच्चे अनुयायी बनने के लिए यह गुणात्मक स्मृति आवश्यक ही नहीं, अत्यावश्यक भी है। और जो व्यक्ति उनकी यह गुणात्मक स्मृति करता है, उसके लिए वे सदा उसके पास हैं, बिलकुल पास हैं, प्रत्यक्ष हैं। एक अपेक्षा से तो व्यक्ति के गुण, विशेषताएं, विचार ही उसका जीवंत व्यक्तित्व है और यह जीवंत व्यक्तित्व ही उसे शरीर छोड़ देने के उपरांत भी हजारों-हजारों वर्षों तक अमर बनाए रखता है।

क्या मांगेंह?

जैसा कि आप सभी जानते हैं, आचार्य भिक्षु अकिंचन थे। अकिंचन से हम क्या मांगेंह? और मांगने से वे देंगे भी कैसेह? बावजूद इसके, हम उनसे तीन चीजें मांग सकते हैं, क्योंकि अकिंचन होते हुए भी वे उन तीनों चीजों से संपन्न हैं। वे तीन चीजें हैंहभक्ति, शक्ति और युक्ति। उनके चातुर्मासिक प्रवास के प्रथम स्थानहअंधेरी ओरी (केलवा) की ऐतिहासिक घटना इन तीनों चीजों का सम्मिलित एवं साकार चित्र है। मैं मानता हूं, इन तीनों चीजों से संपन्न होने के कारण ही वे आत्म-हित साधने के साथ-साथ एक महान धर्मक्रांति करने में सफल हो सके। हम सबका यह आध्यात्मिक कर्तव्य है कि हम उनकी पुण्य आत्मा से तादात्म्य स्थापित करके, उनसे प्रेरणा लें और भक्ति, शक्ति तथा युक्ति से संपन्न बनें। यही आचार्य भिक्षु स्मृति-दिवस-मनाने की प्रेरणा है।

कंटालिया

२२ अप्रैल १९६०

६१. तेरापंथ का विकास

प्रारंभ का मूल्य भविष्य से आंका जाता है। यदि भविष्य उज्ज्वल होता है तो प्रारंभ भी उज्ज्वल हो जाता है, किंतु भविष्य उसी का उज्ज्वल होता है, जिसका प्रारंभ विशुद्ध वातावरण में होता है। तेरापंथ का उद्भव विशुद्धि की भित्ति पर हुआ। विकास स्वयं लभ्य था। आचार्यों ने प्रयत्न किया। साधु-साध्वीगण ने सर्वस्व समर्पण किया। श्रावक-श्राविका संघ ने श्रद्धा और सेवाभाव की लौ जलाई। फलतः तेरापंथ का तेज चमक उठा।

विकास का अंकन

विकास विस्तार, संख्या और गुण की दृष्टि से नापा जाता है। आदि में तेरह साधु थे। साध्वियां तो थीं ही नहीं। अब उनकी संयुक्त संख्या लगभग साठे छह सौ है। श्रावक सैकड़ों की संख्या में थे, वे अब लाखों में हैं। विहार-क्षेत्र मेवाड़ और मारवाड़ का कुछ भाग था, वहां अब केरल और असम को छोड़कर शेष सभी प्रांतों में साधु और साध्वियां विहार कर रही हैं।

गुणात्मक-विकास का लेखा-जोखा करना सामर्थ्य से परे है। ज्ञान-दर्शन और चरित्र की जो आत्मगत अनुभूति है, उसे बाह्य दृष्टि आंक नहीं सकती। इसलिए उन्हें तारत्म्य की परिधि में प्रवेश नहीं दिया जा सकता।

ज्ञान का गम्य रूप हैह्यश्रुत। दर्शन का गम्य रूप हैह्यव्यवस्था। चरित्र का गम्य रूप हैह्यअनुशासन। इनमें नए-नए उन्मेष आए हैं। इसलिए व्यवहार की भाषा में कहा जा सकता है कि ज्ञान, दर्शन और चरित्र का विकास हुआ है।

विकास के कारण

विकास हमें दीखता है, पर उसके कारण छिपे रहते हैं। उसकी अपनी एक विशेष स्थिति होती है। आचार्य भिक्षु ने गण का विधान

बनाया। पर उसका उद्देश्य कोरा संगठन नहीं था, बल्कि चारित्र-शुद्धि के लक्ष्य से वैसा किया गया। इस विशुद्धि के आधार पर जो व्यवस्था पनपी, जो अनुशासन विकसित हुआ, उसके गर्भ में विकास छिपा हुआ था।

लक्ष्य के प्रति जो व्यवस्था होती है, वह व्यक्ति या समाज को आगे ले जाती है। जो दृष्टिकोण हमें मिला है, वह सम्यक है। उसे जन-जन तक पहुंचाया जाए तब लक्ष्य बना, उसके प्रति आस्था-बंध हुआ, अनुगामियों की संख्या बढ़ गई, विचार-क्षेत्र विस्तृत हो चला। पर ऐसा जो हुआ, वह सहज ही नहीं हुआ। उसके लिए साधु-समाज ने अनेक कठिनाइयां झेलीं। किंतु यह एक यथार्थ है कि सब कष्ट अभिशाप नहीं बन पाते, उनमें से बहुत-से वरदान सिद्ध होते हैं। सुविधाओं में उतना चैतन्य-विकास नहीं होता, जितना कठिनाइयों में होता है। कष्टों को सहने की मनःस्थिति मंद होती है, इसका अर्थ यही है कि लौ बुझने के क्षणों में है। आचार्य भिक्षु को कठिनाइयों ने घेरा, इसमें अचरज जैसा कुछ भी नहीं है। वेणीरामजी स्वामी को एक दिन में अनेक स्थानों से निकाला गया, यह भी आश्चर्यपूर्ण नहीं है। आश्चर्य तो इस बात का है कि मेरे शासन-काल में मेरे शिष्यों के जीवन में उन कठिनाइयों की पुनरावृत्तियां हुई हैं, जिनका उल्लेख इतिहास में मिलता है। यह हमारे विकास का सर्वोपरि हेतु है।

ग्राम-विहार का निर्देश

आचार्य भिक्षु ने एक दिशा-निर्देश दिया है 'साधु-साध्वियां गांवों में रहें। जहां सरस आहार मिलता है, वहां उपकार न होने की दशा में भी साधु-साध्वियां अड्डा डाले रहती हैं और जहां नीरस आहार मिलता है, वहां उपकार होने की स्थिति में भी जाना नहीं भाता तब स्थिति रही है किंतु मेरे गण में ऐसा न हो। चातुर्मास के दीर्घकाल में छोटे-छोटे गांवों में रहने की स्थिति न हो तो शेषकाल में अवश्य रहें।'

इस निर्देश ने तेरापंथ को गांव का धर्म बना दिया। उसका विकास गांवों में हुआ है। हमारे अनुयायी नगरों में बहुत कम रहे हैं। आज जो नगरवासी हैं, वे इन्हीं वर्षों में विभिन्न परिस्थितियों में गांवों को छोड़कर नगरों में बसे हैं। ग्राम-विहार के सूत्र का जीवन दो सौ वर्ष का हो गया है, फिर भी वह उतना ही महत्वपूर्ण है, जितना आचार्य भिक्षु के समय था। मर्यादा-महोत्सव संपन्न होने पर साधु-साध्वियां विहार करती हैं। तब आचार्य प्रत्येक सिंघाड़े (ग्रुप) को चातुर्मास के क्षेत्र का निर्देश देते हैं।

इसके साथ ही उसके समीपवर्ती गांव लिखकर दिए जाते हैं। शेषकाल में उन्हें वहीं रहना आवश्यक होता है। चातुर्मास के क्षेत्रों में विशेष आज्ञा से ही रह सकते हैं। चातुर्मास की समाप्ति के बाद जब वे वापस आते हैं, तब वे किन-किन गांवों में कितनी-कितनी रात रहे, यह लिखकर आचार्य से निवेदन करते हैं।

दलबंदी पर प्रहार

आचार्य भिक्षु ने आश्चर्य के साथ देखा कि साधुओं में भी दलबंदियां हैं। उन्होंने विधान की एक धारा लिखी 'गण का कोई साधु-साध्वी दलबंदी न करे।' पर विधान बना देना ही पर्याप्त नहीं होता। उसकी अपेक्षा और औचित्य को पालनकर्ताओं के गले उतारना भी जरूरी होता है। उन्होंने विधान को लागू करने से पूर्व साधुओं के सहज हस्ताक्षर प्राप्त किए। भावी संतति के लिए उन्होंने ऐसा साहित्य रचा, जिससे उनके आदेश-निर्देश सबके संस्कारों में घुलते गए। इसका सर्वोपरि श्रेय उनके महान भाष्यकार और व्यवस्थापक उत्तराधिकारी जयाचार्य को है। उनकी मनोवैज्ञानिक कृतियों में साधु-साध्वियों के मानस को शासन के रंग में रंगने की अपूर्व क्षमता है। व्यक्ति अपने या अपने से संबद्ध व्यक्तियों को अधिक महत्त्व देता है, तब दलबंदी का प्रसंग उपस्थित होता है। इसके विपरीत जब सामुदायिक भावना विकसित होती है, तब गुटबंदी को अवसर नहीं मिलता। जयाचार्य ने व्यक्ति को कोरा व्यक्ति नहीं रहने दिया, उसे सामुदायिक बनाने का भी प्रयास किया। फलतः *जिल्लो संयम ने टिल्लो* (दलबंदी जो है, वह संयम का विनाश है) वह हमारा घोष हो गया। तेरापंथ जो संगठित रहा, उसने शाखाओं को जन्म नहीं दिया, उसका हेतु यहां दलबंदी की मनोवृत्ति को बदल देने का प्रयत्न है।

एक आचार्य की परंपरा

आचार्य भिक्षु ने चाहा कि साधु और साध्वियां एक आचार्य के अनुशासन में रहें। साधुओं ने भी वही चाहा। विधान बन गया। आचार्य एक ही हों और सब उनके आदेशवर्ती। अनुशासन का क्रम आगे बढ़ा। धीमे-धीमे आदेश व्यापक बन गया। अपना शिष्य कोई न बनाए, यह सर्वमान्य हो चुका था। परंतु उस समय किसी को दीक्षित करने का अधिकार आचार्य तक ही सीमित नहीं था। कोई साधु-साध्वी किसी को दीक्षित करती तो उसे उन्हीं के पास रख दिया जाता। पुस्तक-पत्रों पर भी

व्यक्तिगत अधिकार था। साधु-साध्वियों को एक सिंघाड़े से दूसरे सिंघाड़े में परिवर्तन करने में सहजता नहीं थी। जयाचार्य की सूक्ष्म दृष्टि से ये कमियां बच नहीं पाईं। उन्होंने इन सारी बातों में परिष्कार ला दिया। जयाचार्य के शासन-काल में अनुशासन और व्यवस्था का पथ और अधिक प्रशस्त हो गया।

नई दिशाएं

व्यवस्था व्यवहार की सुविधा के लिए है और अनुशासन जीवन की व्यवस्था के लिए। ये न कभी रूढ़ होते हैं और न सीमित। आचार्यों ने जब-जब आवश्यक समझा, तब-तब व्यवस्थाएं दीं और अनुशासन को व्यापक बनाया।

आचार्य भिक्षु हृदय-परिवर्तन में विश्वास करते थे। अहिंसा और बलप्रयोग को वे एक-दूसरे से उतना ही भिन्न मानते थे, जितने भिन्न कोई दो अत्यंत विराधी पदार्थ होते हैं। अहिंसा की परिधि में अनुशासन आत्मा का ही होता है। आत्मानुशासन का संबंध है अपनी समझ से। समझ का विकास श्रुत से होता है। श्रुतोपासना के दो अंग हैं अध्ययन और नवनिर्माण। हमें इन दोनों को विकसित करने का उत्तराधिकार मिलता रहा है। प्रारंभ में हमारा अध्ययन आगम-सूत्र पुराणों तक ही सीमित था। जिस परंपरा से आदि संबंध था, उसमें संभवतः संस्कृत का अध्ययन प्रचलित नहीं था। बहुत संभव है कि व्याकरण की गणना पापश्रुत में थी, इसलिए उसे पढ़ना निषिद्ध भी माना जाता था। जयाचार्य से पहले संस्कृत पढ़ने का कोई उल्लेख नहीं मिलता। आचार्य भिक्षु ने गद्य और पद्य दोनों में लिखा। कुल मिलाकर अड़तीस हजार श्लोक-परिमाण के लगभग साहित्य लिखा। उसकी भाषा शुद्ध मारवाड़ी है। उनके साहित्य का एक बड़ा भाग आगमों पर आधारित है। इसलिए उसमें प्राकृत के प्रयोग हैं, पर संस्कृत के प्रयोग नहीं हैं। जयाचार्य न संस्कृत में कोई रचना नहीं की। कई रचनाओं के मंगल स्त्रोत उन्होंने संस्कृत में रचे हैं। उन्होंने संस्कृत व्याकरण के कतिपय अंशों को मारवाड़ी दोहों में लिखा है। वे अपने उत्तराधिकारी मधराजजी को संस्कृत का विद्वान मानते थे। आचार्य मधराजजी ने संस्कृत का गंभीर अनुशीलन किया। उनका एक लघु स्तुति-ग्रंथ भी मिलता है।

जयाचार्य ने अपनी रचनाओं में अनेक संस्कृत-ग्रंथों को उद्धृत किया

है, उनका अनुवाद किया है। लगता है, इस कार्य में उन दोनों आचार्य और शिष्य का सम्मिलित प्रयत्न हो।

श्रुतोपासना के दो प्रयोजन होते हैं^१। जनहित-संपादन, २. तत्त्व की उपलब्धि। जनहित-संपादन की स्थिति में भाषा का प्रश्न गौण होता है। भगवान महावीर की अनेकांत-दृष्टि उपयोगिता से संबद्ध रही, भाषावाद उन्हें प्रिय नहीं था। उन्होंने जो कहा, वह जनता की भाषा में कहा, प्रचलित भाषा में कहा। आचार्य भिक्षु मारवाड़ (आधुनिक राजस्थान) के थे। उन्होंने मारवाड़ी में लिखा। वह जनता के लिए बहुत प्रेरक बना। चूंकि हमारा विहार-क्षेत्र बहुत व्यापक नहीं बना था और जनहित-संपादन में कोई कठिनाई नहीं थी, इसलिए संस्कृत के अध्ययन की ओर ध्यान आकृष्ट नहीं हुआ। संघर्षमय जीवन भी इस उपेक्षा का एक अन्य हेतु था।

जयाचार्य के समय संघर्ष अपनी कुछ सीमाओं को पार कर चुका था। वे आचार्य भिक्षु के द्वारा प्रदर्शित तत्त्व-दर्शन की विस्तृत व्याख्या करना चाहते थे। इस साध्य की सिद्धि के लिए तत्त्वों की उपलब्धि हो, यह उन्हें अपेक्षा थी। इस परिस्थिति के संदर्भ में उन्होंने संस्कृत का मूल्य आंका और उसकी सुदीर्घ परंपरा में जो तत्त्वोपलब्धियां हुईं, उन्हें हस्तगत करने का प्रयत्न किया। वे अपने प्रयत्न में सफल हुए, पर उस परंपरा को प्रसरणशील बनाने में उन्हें सफलता नहीं मिली।

पूज्य कालूगणी तेरापंथ के आठवें आचार्य थे और शिक्षा के क्षेत्र में आचार्य मधराजजी के उत्तराधिकारी थे। उन्होंने जयाचार्य की दृष्टि से देखा और मधराजजी की मनोभावना को पकड़ा। स्वयं तप तपा और दूसरों को इस तपस्या का मूल्य समझाया। संस्कृत का मूल दृढ़ हो गया।

जैन-आगमों की भाषा प्राकृत (अर्द्धमागधी) है। उसे संस्कृत के माध्यम से पढ़ा जाता है। पर वास्तविकता यह है कि संस्कृत से वह बहुत भिन्न है। आगम-सूत्रों व प्राचीनतम व्याख्याओं को पढ़ने के लिए प्राकृत का अध्ययन अपेक्षित है। कालूगणी ने प्राकृत पढ़ने का पहला अवसर मुझे दिया। आचार्य हेमचंद्र का प्राकृत व्याकरण मैंने कंठस्थ किया और मुनि नथमल को भी मैंने वह कंठस्थ करवाया।

अतीत जितना मूल्यवान है, उतना ही मूल्यवान वर्तमान है, भविष्य भी है। सचाई केवल वर्तमान है। अतीत और भविष्य वर्तमान बनकर ही सचाई प्राप्त करते हैं। अतीत को समझकर ही मनुष्य वर्तमान को संपन्न तेरापंथ का विकास

बना सकता है। जो भविष्य के सुनहरे सपनों को आकार न दे, उसका वर्तमान संपन्न नहीं हो सकता। जो सामने है, उसे न समझे तो उसका वर्तमान संपन्न कैसे होगा? अतीत की भाषाओं के माध्यम से हमने वर्तमान को समझने का प्रयत्न किया। वर्तमान को पकड़ने में विलंब हुआ, परंतु बहुत नहीं। हिंदी भाषा में श्रुतोपासना की गति और प्रगति को देखने का अवसर मुझे मिला। साधु-संघ का हिंदी-साहित्य का इतिहास सोलह वर्षों का है। इस अल्प अविध में हमें जो सफलता मिली है, वह हमारे अतीत की परंपराओं का ही परिणाम है। भारतीय वाङ्मय में जैन-साहित्य का अग्रणी स्थान है। प्राकृत, अपभ्रंश, संस्कृत और अंतर्देशीय भाषाओं में जैनाचार्यों व विद्वानों की लेखनी चिरकाल से प्रवहमान रही है। सामग्री प्रचुर है। उसे नया रूप मिले तो लेखक का कौशल सहज ही उजागर होता है। मैंने अतीत के आलोक से वर्तमान को आलोकित रखने के लिए मेरे शिष्यों को प्रेरणा दी है।

अंग्रेजी अपनी समृद्धि से अंतरराष्ट्रीय भाषा है। वर्तमान के रूपाकलन का वह सर्वाधिक प्रभावशाली माध्यम है। उसकी ओर पर्याप्त गति नहीं हुई है, तथापि वह हमारी दृष्टि से ओझल नहीं है। जब-कभी मैं प्रगति- काल की गाथाओं को पढ़ता हूँ तो सचमुच अपने को विस्मय में पाता हूँ। पचास से कुछ अधिक वर्ष हुए होंगे। बीदासर (राजस्थान) के ठाकुर हुकूमसिंह ने एक संस्कृत श्लोक लिखकर भेजा। उसका अर्थ समझने की स्थिति में एक भी साधु नहीं था। उस समय हमारे संघ की प्राणवत्ता कसौटी पर थी। जातिवान अश्व भला चाबुक को कैसे सह सकता है? पूज्य कालूगणी के दिल में एक चुभन हो गई और उन्होंने अपने जीवन में अनेक साधुओं को संस्कृत में काव्य-निर्माण करते हुए देखा और देखा कि उनकी इच्छा के अनुरूप तेरापंथ सांगोपांग संस्कृत-व्याकरण से संपन्न है। संस्कृत के आशुकवि साधुओं के देखने का अवसर उन्होंने मुझे दिया। वि. सं. २००२ की बात है। एक रात को मैं मेरे मन के सपने मेरे विद्यार्थी शिष्यों को सुना रहा था। मैंने कहा 'आज हमारे संघ का संस्कृत-अध्ययन पचीस वर्ष का प्रौढ़ हो गया है। इसके बावजूद संस्कृत में व्याख्यान देने की जितनी क्षमता होनी चाहिए, उतनी नहीं है।' इसके ठीक चार महीनों के बाद मैंने अपने इस सपने को साकार पाया और मुझे एक तुष्टि का अनुभव हुआ। मेरी अतृप्ति और साधुसंघ की सप्राणताहइन

दोनों के मध्य में विकास के बीज छिपे हुए हैं।

परिवर्तन : विकास का स्रोत

विकास की सबसे बड़ी बाधा हैरूढ़िवाद। विचार प्रवहमान रहते हैं, तब तक उनमें स्वच्छता रहती है। उनका प्रवाह रुकता है, तब वे पंकिल बन जाते हैं। रूढ़ियां अनावश्यक नहीं होतीं। व्यक्ति या समाज को जीवित रहने के लिए देश-काल के अनुरूप रूढ़ि का आलंबन लेना होता है। यह रूढ़िवाद नहीं है। फिर रूढ़िवाद क्या है? देश-काल के बदल जाने पर भी देश-कालजनित स्थिति को न बदलने का आग्रह रूढ़िवाद कहलाता है। मैं नहीं जानता कि कोई भी व्यक्ति या समाज रूढ़िवाद से सर्वथा मुक्त होता है, किंतु मैं यह मानता हूँ कि जिन्हें अनेकांत-दृष्टि प्राप्त होती है, वे रूढ़िवादी नहीं हो सकते। यह निष्कर्ष निकालने में मुझे कोई कठिनाई नहीं कि जो रूढ़िवादी हैं, उन्हें अनेकांत-दृष्टि प्राप्त नहीं है। वे अपने में सत्य को विकसित कर सकते हैं, यह समझने में कठिनाई होती है। सत्य का विकास हो सकता है, संप्रदाय का विकास न हो। संप्रदाय का विकास हो सकता है, सत्य का विकास न हो। एक सच्चा अनेकांतवादी सत्य के विकास को ही विकास मान सकता है। सत्यविहीन संप्रदाय के विकास को वह कोई मूल्य नहीं देता।

आचार्य भिक्षु से पूछा गयाह‘आपका गण कब तक चलेगाह?’ आचार्यप्रवर ने उत्तर दियाह‘जब तक आचार और व्यवहार विशुद्ध रहेगा, तब तक मेरा गण चलेगा।’ उनका गण क्या हैह? आचार और विचार की जो विशुद्धि है, वही उनका गण है। उनका गण कोरी संख्या और कोरा आकार नहीं है।

तेरापंथ के विकास का मूल आचार और दोनों की विशुद्धि है। विचार की विशुद्धि का अर्थ हैहअनेकांत-दृष्टि। इसके बिना आचार अनाचार बन जाता है। भगवान महावीर ने आग्रह या एकांत-दृष्टि को अनाचार कहा है। अनाचार से आचार प्रगट नहीं हो सकता। आचार आचार में से ही उद्भूत हो सकता है। विकास अविकास की अनुभूति में से ही उपजता है। सत्य का विकास तब तक पूर्ण नहीं होता, जब तक कषाय का अंश शेष रहता है। हमारा गण वीतराग व्यक्तियों का गण नहीं है। साधु- समुदाय जो है, वह साधना के पथ पर है। साधना की तरतमता है। हमें इसका गर्व नहीं है कि हमारा विकास हुआ है। हमें इसका

उल्लास है कि हमें जो पथ मिला है, वह साध्य की ओर ले जानेवाला है। मैं इससे संतुष्ट हूँ कि मेरे गण के साधु-साध्वियों में ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना की अभिलाषा है। वे विकास चाहते हैं। देश और काल की समझ रखते हुए भी अपना अस्तित्व बनाए रखना चाहते हैं।

देश-काल की समझ एक समस्या है। सभी व्यक्तियों का बौद्धिक विकास इतना नहीं होता कि वे सारी स्थितियों का यथार्थ अंकन कर सकें। उन्हें गीतार्थ ही समझा सकते हैं। अनुभूत वाणी हैह्य'गीतार्थ कहे तो तुम हलाहल विष भी पी लो। यह मत सोचो कि क्या होगाह? यह विष जैसा लगता है, पर वास्तव में विष नहीं होता। उससे कोई मरता नहीं और यदि मरता है तो भी अमृत बन जाता है। पर अगीतार्थ के कहने से तुम अमृत भी मत पीओ। वह अमृत जैसा लगता है, पर वास्तव में अमृत नहीं होता। उसे पीनेवाला जीकर भी मृत जैसा ही हो जाता है।'

मत-ग्रहण के युग में स्थिति का निर्णय संख्या से होता है, पर साधना के क्षेत्र में बहुमत, अल्पमत का प्रश्न नहीं है। सचाई का संबंध बहु या अल्प से नहीं होता। जो गीतार्थ हो, मध्यस्थ हो, वह अकेला भी सत्य के निकट होता है। अगीतार्थ अनेक होकर भी गण का हित-संपादन नहीं कर सकते। विकास का पथ यह है कि गण गीतार्थ का अनुगमन करे। गण के जिन साधु-साध्वियों ने ऐसा किया है, उनकी प्रवृत्तियां सदा विकासोन्मुख रही हैं।

नव उन्मेष

हमने जो किया है, जो पाया है, वह पर्याप्त नहीं है। चूंकि हम ऐसा मानकर चलते हैं, इसीलिए विकास के अवसर की अपने हाथों में सुरक्षित रखे हुए हैं। अणुव्रत-आंदोलन का प्रवर्तन इसी अपर्याप्त के चिंतन की भावना से हुआ है। मैं अनेक बार यह सोचा करता था कि हमारे संपर्क में आनेवालों के जीवन में कोई परिवर्तन आता है या नहीं। सुदीर्घ चिंतन के पश्चात मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि लोगों में जितना भाव उपासना का है, उतना आचरण-शुद्धि का नहीं है। आचरण-शुद्धि के बिना उपासना का महत्त्व कितना होगा, इस मानसिक द्वंद्व ने अणुव्रत-आंदोलन का सूत्रपात कर डाला।

आचरण-शुद्धि की आवश्यकता हमारे अनुयायियों को ही है, ऐसा मैं नहीं मानता। आचरण-शुद्धि की प्रेरणा मात्र उन्हें देनी चाहिए, ऐसा भी मैं

नहीं मानता। मैं मानता हूँ कि पवित्र जीवन सभी के लिए आवश्यक है। उसकी प्रेरणा सभी को मिलनी चाहिए। इस विचार की भूमिका में आंदोलन का स्वरूप ऐसा बना कि वह सर्वजन-प्रिय हो गया। मैं इस प्रवृत्ति को कोई सर्वथा नवीन नहीं मानता। मात्र इतना-सा मानता हूँ कि इससे जनता और हम फलान्वित हुए हैं। जनता को एक मार्गदर्शन मिला है। उसमें तेरापंथ या जैन-दर्शन को निकट से समझने का भाव बना है और हमें धर्म को संप्रदायातीत रखने व विभिन्न संप्रदायों को एक-दूसरे के निकट लाने का अवसर मिला है। मैं मानता हूँ, आचार्य भिक्षु ने धर्म का जो असांप्रदायिक स्वरूप प्रस्तुत किया, उसी का व्यवस्थित व विकसित रूप है। अणुव्रत-आंदोलन।

विरोध और क्षमता का विकास

जहां प्रशंसा है, वहां आलोचना भी है। जहां समर्थन है, वहां विरोध भी है। वह पक्ष कैसे हो सकता है, जिसका प्रतिपक्ष न हो? आलोचना से हमारा विकास हुआ, यह मैं नहीं कह सकता और यह भी मैं नहीं कह सकता कि विरोध से हमारा कोई बहुत बड़ा हित सधा हो। यदि ये दोनों स्थितियां नहीं पैदा होतीं तो संभव है, हमारा गण और अधिक आकर्षण का केंद्र बनता। विरोधी वातावरण ने अवश्य ही गतिरोध उत्पन्न किया है। यह एक पहलू है। दूसरा पहलू यह है कि आलोचना और विरोध से हमने सीखा है, हमारी क्षमता का विकास हुआ है। हमें इस पर गर्व है कि हम विरोध का प्रतिकार विरोध से करने में विश्वास नहीं करते। दो सौ वर्षों में हमने किसी के विरोध में कुछ भी नहीं लिखा। हमारे आत्म-विश्वास, संप्रदाय-निष्ठा और तितिक्षा का निदर्शन है। इसी प्रकार सांप्रदायिक कट्टरता में हमारा विश्वास नहीं है। हमारा गण इसका भी एक उदाहरण है। यह शांति और सहिष्णुता की परंपरा आचार्य भिक्षु से जन्मी और अपनी गति से निरंतर विकासशील बनती गई।

हमारा भविष्य

विकास की धाराएं अनेक होती हैं। उनका अपना-अपना क्षेत्र होता है। कुछ क्षेत्रों में हमने विकास किया है, कुछ क्षेत्र ऐसे हैं, जिनका किंचित स्पर्श कर पाए हैं और कुछ ऐसे भी हो सकते हैं, जिनका स्पर्श भी न हुआ हो।

विकास के लिए व्यक्ति अनंतचक्षु बने, इस विचार को मैं महत्वपूर्ण

मानता हूँ। हमें हमारी विशेषताओं का अनुभव हो, यह अच्छी बात है। पर हम अपनी कमियों को न जान पाएं, यह अच्छी बात नहीं है। लोग मुझे जितना परिवर्तनवादी समझते हैं, उतना संभवतः मैं नहीं हूँ। मैं स्थिति में भी विश्वास करता हूँ। एकांत-दृष्टि को मैं उचित नहीं मानता, जिसे पकड़कर कोई अपनी विशेषताएं ही देखे या कमियां ही देखे। गर्व जैसे विकास की बाधा है, वैसे ही हीन भावना भी उसकी बाधा है। इन दोनों से बचा जाएल्लनिर्बाध मार्ग यही है।

६२. तेरापंथ : अतीत, वर्तमान और भविष्य*

आज का दिनह्मआषाढ शुक्ला पूर्णिमा का दिन तेरापंथ के इतिहास में गौरवपूर्ण दिन है। आज के दिन, ठीक दो सौ वर्ष पूर्व महामहिम आचार्य भिक्षु ने दीक्षा स्वीकार की थी, तेरापंथ का उदय हुआ था। कहना चाहिए, उस दिन अनुशासन, संगठन और व्यवस्था का बीज-वपन हुआ था तथा धर्मक्रांति का शंख फूँका गया था।

दो शताब्दियां पूर्ण हुई हैं। हमारा भिक्षु-गण इस पुण्य बेला में तीसरी शताब्दी में प्रवेश कर रहा है। हमारा धर्म-शासन अपनी समृद्ध परंपराओं व व्यवस्थित प्रणालियों के साथ तीसरे शतक के पहले चरण को स्पर्श कर रहा है। आज हम हर्ष-विभोर हैं। पर जितने हर्ष-विभोर हैं, उतने ही गंभीर भी हैं। हम हर्ष-विभोर इसलिए हैं कि समय की इस अवधि में हमें जो मिला है, वह साधारण नहीं है, यत्र-तत्र सुलभ नहीं है। दायित्व का चिंतन करते समय हम गंभीर हो जाते हैं। हमने जो दायित्व ओढ़ा है, वह गंभीर है। उसका सम्यक पालन हो, इसलिए हम गंभीर हैं।

स्मर्तव्य : स्मृति

हमें जो साधना का उत्तराधिकार मिला है, वह महान दायित्व है। आप देखें, कितना बड़ा दायित्व कि हम स्वयं साधना में रत रहें और दूसरों को साधना में रत रखें। दूसरों का भार उठाना बहुत कठिन है। पर हमें यह सिखाया गया है, इसीलिए हमारा गण है, हमारा धर्म-शासन है। भगवान महावीर से जो दर्शन मिला, जो धर्म मिला, उसे हमने अपनाया, हम जैन बने। आचार्य भिक्षु से हमें धर्म की जो व्याख्याएं मिलीं, जो परंपराएं मिलीं, उन्हें हमने अपनाया, हम तेरापंथी बने। जैन-परंपरा का इतिहास बहुत पुराना है। उतना पुराना, जितना पुराना मानव-जाति का इतिहास है।

*तेरापंथ द्विशताब्दी समारोह (मुख्य कार्यक्रम) में प्रदत्त प्रवचन

तेरापंथ का इतिहास केवल दो सौ वर्षों का है। वि. सं. १८१७ की आषाढी पूर्णिमा थी। यही था *केलवा* और यही थी *अंधेरी ओरी*। इसी उत्साहपूर्ण वातावरण में आचार्य भिक्षु ने जैन-धर्म की दीक्षा स्वीकार की। उसके पीछे एक क्रांति का बीज छिपा हुआ था। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि उस दिन उन्होंने तेरापंथ की प्रथम दीक्षा स्वीकार की।

स्थान का अपना महत्त्व होता है, आज हम उसी स्थान पर हैं उसी गांव में हैं, जहां तेरापंथ का उदय हुआ था।

समय का अपना महत्त्व होता है। आज का दिन वही दिन है, जिस दिन तेरापंथ का उदय हुआ था।

व्यक्ति का अपना महत्त्व होता है। आज हम उसी व्यक्ति की स्मृति कर रहे हैं, जिससे तेरापंथ का उदय हुआ था।

संस्थान का अपना महत्त्व होता है। आज हम उसी संस्थान की स्मृति कर रहे हैं, जिसका उदय अपनी विशेषताओं के साथ हुआ था।

तेरापंथ का उद्भव और स्वरूप

तेरापंथ की अपनी विशेषता है आचार का दृढ़तापूर्वक पालन। आचार्य भिक्षु ने हमारे संविधान का उद्देश्य वही बतलाया *हान्याय मारग चालण रो नै चारित्र चोखो पालण रो उपाय कीधो छै*।

तेरापंथ का उद्भव ही चरित्र की शुद्धि के लिए हुआ है। देश-काल के परिवर्तन के साथ परिवर्तन होता है, इस तथ्य को आचार्य भिक्षु स्वीकार करते थे, पर देश-काल के परिवर्तन के साथ मौलिक आचार का परिवर्तन होता है, यह उन्हें मान्य नहीं हुआ। इस स्वीकृति में ही तेरापंथ के उद्भव का रहस्य है। चरित्र की शुद्धि के लिए विचार की शुद्धि और व्यवस्थाहय दोनों स्वयं प्राप्त होती हैं। विचार-शुद्धि का सिद्धांत आगम-सूत्रों से सहज ही मिला और व्यवस्था का सूत्र मिला देश-काल की परिस्थितियों के अध्ययन से। आचार्य भिक्षु ने देखा, वर्तमान के साधु शिष्यों के लिए विग्रह करते हैं। इस विग्रह की समाप्ति के उद्देश्य से उन्होंने शिष्य-परंपरा को समाप्त कर दिया। तेरापंथ का विधान किसी भी साधु-साध्वी को शिष्य-शिष्या बनाने का अधिकार नहीं देता।

● आज हमारे सभी साधु-साध्वियां संतुष्ट हैं, सुखी हैं। इसलिए हैं कि उनके शिष्य-शिष्याएं नहीं हैं।

● आज तेरापंथ संगठित और सुव्यवस्थित है। इसलिए है कि शिष्य-शाखा का प्रलोभन नहीं है।

● आज तेरापंथ एक आचार्य के अनुशासन में प्रगति के पथ पर है, शक्तिसंपन्न है। इसलिए है कि उसका शिष्य-वर्ग छोटी-छोटी शाखाओं में बंटा हुआ नहीं है।

इन सब उपलब्धियों का मूल हेतु हैलक्ष्य के प्रति दृढ़ विश्वास। लक्ष्य हैलक्ष्यमुक्ति। मुक्ति के लिए आचार-शुद्धि एकमात्र विकल्प है। उसके लिए व्यवस्था व अनुशासन आवश्यक है।

अनुशासन और व्यवस्था

तेरापंथ का विकास हुआ है, वह अनुशासन और व्यवस्था के आधार पर हुआ है। हमारा क्षेत्र साधना का क्षेत्र है। यहां बल-प्रयोग को कोई स्थान नहीं है। जो कुछ होता है, वह हृदय की पूर्ण स्वतंत्रता से होता है। आचार्य अनुशासन व व्यवस्था देते हैं, समूचा संघ उसका पालन करता है। इसके मध्य में श्रद्धा के अतिरिक्त दूसरी कोई शक्ति नहीं है। श्रद्धा और विनयद्वये दोनों हमारे जीवन-मंत्र हैं। आज के भौतिक जगत में इन दोनों के प्रति तुच्छता का भाव पनप रहा है। पर वह अकारण भी नहीं है। बड़ों के मन में छोटों के प्रति वात्सल्य का भाव नहीं है। बड़े लोग छोटे लोगों को अपने अधीन ही रखना चाहते हैं। इस स्थिति में बुद्धिवाद अश्रद्धा और अविनय की ओर मुड़ आता है। हमारा जगत आध्यात्मिक है। इसमें छोटे-बड़े का कृत्रिम भेद हो ही नहीं सकता। आचार्य शिष्य को अपने अधीन नहीं रखते, अपितु शिष्य अपने हित के लिए आचार्य के अधीन रहना चाहता है। यह हमारी स्थिति है। इस पुण्य अवसर पर मैं मंगलकामना करता हूं कि ये संदेह और पराधीनता के भाव हमारे गण में न आए और मुझे दृढ़ विश्वास है कि जब तक हमारा शिष्य-वर्ग अपने लक्ष्य के प्रति दृढ़ आस्थावान रहेगा, तब तक ये दोष नहीं आएंगे।

आचार्य भिक्षु ने व्यवस्था के लिए जो समता का सूत्र दिया, वह समाजवाद का विकसित प्रयोग है।

यहां सभी-के-सभी श्रमिक हैं और सभी-के-सभी पंडित । हाथ, पैर और मस्तिष्क में अलगाव नहीं है। सामुदायिक कार्यों का संविभाग होता है। सभी साधु-साध्वियां दीक्षा-क्रम से अपने-अपने विभाग का कार्य करती हैं। खान, पान, स्थान, पात्र आदि सभी उपयोगी वस्तुओं का संविभाग

होता है। एक रोटी के चार टुकड़े हो जाते हैं, यदि खानेवाले चार हों तो। एक सेर पानी पाव-पाव करके चार भागों में बंट जाता है, यदि पीनेवाले चार हों तो। इस संविभाग की पद्धति से हमारे साधु और साध्वियां परम संतुष्ट हैं।

कृतज्ञता का स्वर

मैं इस महान अवसर पर समूचे संघ को कहना चाहता हूँ कि वह अपने उज्ज्वल अतीत को देखे। हमारे साधु लक्ष्य के प्रति कितने आस्थावान रहे हैं ! संघ-समृद्धि के लिए उन्होंने कितना कष्ट सहा है! कितने खपे हैं और कितना तप तपा हैह!

हमारा कर्तव्य है कि उनके प्रति कृतज्ञता प्रगट करें। मैं उन्हें अपनी व अपने संघ की ओर से शत-शत श्रद्धांजलियां अर्पित करता हूँ। हम श्रावक-समाज को भी न भूलें, जो संघ की श्रीवृद्धि के लिए सतत जागरूक रहा है। हम उसकी उदार भावनाओं का मूल्यांकन करें। मैं उसकी निरवद्य सेवाओं का हृदय से सम्मान करता हूँ।

जरूरी है वर्तमान का दर्शन

केवल अतीत को देखना और उसका बखान करना पर्याप्त नहीं होता। हम वर्तमान पर भी दृष्टि डालें। मैं इसे देख संतुष्ट हूँ कि हमारा संघ त्रिपदी का ज्वलंत उदाहरण बन रहा है। दो सौ वर्षों के बाद भी हमारी आचार-निष्ठा में कोई अंतर नहीं आया है। मौलिक आचार के पालन में हम ध्रुव हैं, निश्चल हैं। दो सौ वर्षों की अवधि में अनेक परिवर्तन हुए हैं। धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक स्थितियों में भी भारी उथल-पुथल हुई है। विचारों का विकास हुआ है। बुद्धिवाद बढ़ा है। हमने समय को समझने का प्रयत्न किया है, उससे कुछ लिया है। परिवर्तनशील नियमों में परिवर्तन न करने के आग्रह से हम मुक्त हैं।

यह सही है कि जहां परिवर्तन होता है, वहां कुछ-न-कुछ कठिनाइयां उत्पन्न होती हैं। उनका समाधान भी होता है। मैं आवश्यक नहीं समझता कि कोई विश्वास दिलाऊं। मेरे दायित्व का मुझे स्वयं ही ध्यान है, इसलिए मैं कहना चाहूंगा कि सब निश्चित रहें। जो मौलिक है, उसमें परिवर्तन नहीं होगा और जो परिवर्तनीय है, उसे देश-काल और परिस्थिति के अनुसार बदलने में संकोच भी नहीं होगा।

आज का युग और हमारा कर्तव्य

आज हम भौतिकवाद की भित्ति पर परिपोषित बुद्धिवाद के युग में जी रहे हैं। श्रद्धा, विनय और अनुशासन कसौटी पर हैं। वैसी स्थिति में यह इष्ट नहीं है कि बुद्धिवाद की अवहेलना करके हम चलें। इष्ट यह है कि श्रद्धा अडिग रहे, विनय बढ़े और अनुशासन पनपे। हमारा तेरापंथिव्व इसी में है और इसी परंपरा को पुष्ट रखकर ही हम आचार्य भिक्षु को अपनी श्रद्धांजलि अर्पित कर सकते हैं।

भविष्य कल्पना का जगत होता है, तथापि इसमें संदेह नहीं कि जिसका वर्तमान उज्ज्वल होता है, उसका भविष्य सदा उज्ज्वल होता है। वर्तमान को उज्ज्वल बनाए रखने के लिए जो विचार-संपदा और आचार-परंपरा हमें प्राप्त है, उसे सुरक्षित रखें तथा नए-नए विचारों से उसे समृद्ध बनाएं।

आज का विश्व आणविक अस्त्रों की स्पर्धा से आतंकित है। वातावरण तनावपूर्ण है। इस स्थिति में अनेकांत-दृष्टि और समन्वय की विचारधारा को प्रभावशाली बनाया जा सकता है। अहिंसा के प्रसार का यह स्वर्णिम अवसर है। भगवान महावीर ने जो दिया, वह सार्वजनिक है, फिर भी आज उसकी उपयोगिता और अधिक है। किसी समय जैन-शासन बहुत व्यापक बना था। उसकी व्यापकता के हेतु ये थे

- सैद्धांतिक व नैतिक दृढ़ता।
- अपूर्व त्याग।
- पारस्परिक प्रेम व ऐक्य।
- जाति-भेद का अभाव।
- देश-कालोचित साधनों का अवलंबन।
- धर्म-प्रचार का अदम्य उत्साह।
- व्यापक दृष्टिकोण।

समय की गति के साथ स्थिति बदल गई। आज व्यापकता कम हुई है, संप्रदाय और शाखाएं अधिक। कुछ शताब्दियां तो बहुत ही संघर्षपूर्ण बीतीं। यह प्रसन्नता की बात है कि वर्तमान में पुनः दूरी कम होती जा रही है। विरोध मिट रहा है। मैं इस पुण्य अवसर पर सभी जैन-संप्रदायों से और उनके नेतृवर्ग से यह अनुरोध करूंगा कि वे समन्वय के दृष्टिकोण तेरापंथ : अतीत, वर्तमान और भविष्य

को इतना पुष्ट बनाएं कि जिससे संप्रदायों की स्थिति रहते हुए भी जैन-शासन की अखंडता पर कोई आंच न आए। इस दिशा में मैं ही नहीं, मेरा पूरा संघ सदा प्रयत्नशील रहेगा, मैं दृढ़तापूर्वक यह घोषित करना चाहता हूँ।

मैंने आज से पांच वर्ष पूर्व बम्बई में समन्वय के जो पांच सूत्र प्रस्तुत किए थे, उन पर वैसी ही दृढ़ता है, जैसी उस समय थी। मैं हृदय से चाहता हूँ कि जैन-शासन की अखंडता निर्बाध हो। जैन-साहित्य पुराकाल में समृद्ध व सर्वोपयोगी रहा है। मैं कामना करता हूँ कि आज भी वैसा ही उच्चस्तरीय एवं सर्वोपयोगी साहित्य तथा उच्चकोटि के साहित्यकार जैन-शासन को सुशोभित करें।

जैन-साहित्य में आगमों का स्थान सर्वोपरि है। उनकी सर्व-सुलभता की दृष्टि से जैसे हिंदी रूपांतरण आदि आवश्यक हैं, वैसे ही उनके मूलपाठ की सर्वमान्य वाचना भी आवश्यक है।

मैं इस कार्य के लिए पहले भी एक विचार दे चुका हूँ। हालांकि अभी तक वह विचार आगे नहीं बढ़ पाया है, तथापि मैं निराश नहीं हूँ। मुझे आशा है कि एक दिन अवश्य ही उस पर ध्यान दिया जाएगा।

हमने तेरापंथ द्विशताब्दी के अवसर पर जो साहित्य-निर्माण की कल्पना की थी, उसमें निश्चित रूप से सफलता मिली है। इस प्रयत्न में शिथिलता नहीं आने दी जाएगी, यह दृढ़ संकल्प है।

इस समय पूज्य कालूगणी को पुण्य स्मृति मुझे पुलकित कर रही है। उन्होंने तेरापंथ को उस भूमिका पर पहुंचा दिया, जहां पहुंचकर हम विश्व-मानस को पढ़ सकते हैं और क्षमतापूर्वक उसके साथ चल सकते हैं।

मैं इस समय महामहिम आचार्य भिक्षु, जयाचार्य आदि पूर्वजों के उन शब्दों को याद दिलाना चाहता हूँ, जो आज भी उतने ही प्रेरक हैं और प्रकाशदीप हैं, जितने उनके स्वयं के समय में थे।

भिक्षुगण के नीतिमान साधु-साध्वियो!

● आज्ञा का सर्वोपरि स्थान जो है, उसे बनाए रखना है। **जिन शासन में आज्ञा बड़ी**..... आचार्य भिक्षु की इस वाणी को तुम लोग कभी मत भूलना।

● हमारा संबंध आचार का है। अनाचार को कभी प्रोत्साहन मत

देना। तुम्हें याद होगा। वह वाणीह

कहो साधू किसका सगा, तड़के तोड़े नेह।

आचारी स्यूं हिल-मिले, अनाचारी ने छेह॥

- सबसे परस्पर प्रेम रखना। आचार्य भिक्षु की अंतिम शिक्षा क्या है?

(सगला रे) सगला साधु-साध्वी, राखजो हेत विशेष।

(जिण-तिण ने रे) जिण-तिण ने मत मूंडजे, दीक्षा दीजो देख-देख॥

- गण के प्रति अत्यंत निष्ठावान रहना। कठिन परिस्थिति में भी उससे दूर होने का मत सोचना। श्रीज्जयाचार्य ने कहा हैह

नंदनवन भिक्षु-गण में बसोरी।

(ऐ जी!) प्राण जाय तो भी पग न खिसोरी॥

इनके अतिरिक्त सेवा-भाव, कष्ट-सहिष्णता, दृढ़ विश्वास आदि जो विशिष्ट परंपराएं पैतृक संपत्ति के रूप में प्राप्त हैं, उन्हें विकसित करते रहना है।

हमारा साधु-संघ जिस श्रद्धा और तत्परता के साथ इन बातों का पालन करता है, उसे मैं किसी चमत्कार से कम नहीं मानता हूं। मैं इसके लिए साधु-साध्वियों को हृदय से बधाई देना चाहता हूं। उनके संयम और समर्पण की मैं प्रशंसा करता हूं। श्रावक-श्राविकाओं की निष्ठा भी कम आश्चर्यजनक नहीं है। वे भी गण की चहुंमुखी प्रगति के लिए अपना योग देते रहते हैं। सही चिंतन, सहासन, सह-निर्णय और सहप्रयोगह्ये हमारे मूलमंत्र हैं। इसलिए इस पुण्य प्रसंग पर हम सब मंगलकामना करें किह

- अहिंसा धर्म का विकास होह!
- जैन-शासन का विकास होह!
- तेरापंथ का विकास होह!

केलवा (राजनगर)

८ जुलाई १९६०

(वि. सं. २०१७ आषाढी पूर्णिमा)

हमारा कर्तव्य*

समय अपनी गति से चलता है। अपने-आपमें उसका कोई मूल्य हो या न हो, किंतु उसकी परिधि में जो रहते हैं, उनके लिए वह बहुत ही मूल्यवान है। पर लाभान्वित वही होता है, जो उसका मूल्य आंक सके। तेरापंथ की द्विशताब्दी का आयोजन है, वह समय का मूल्यांकन है। हमारे संघ का प्रथम पर्व (प्रथम शताब्दी) पूज्य जयाचार्य के आचार्य-काल में संपन्न हुआ था। दूसरा पर्व अभी मेरे समय में संपन्न हो रहा है। हमारा शतपर्वा संघ अपने प्रत्येक पर्व की संपन्नता के साथ आगे बढ़े, इसलिए यह हमारे लिए महत्त्वपूर्ण समय है। हमें चिंतन के साथ-साथ जो नया मोड़ मिला है, वह हमारी अनेकांत-पद्धति के अनुरूप है।

आचार्य श्री भिक्षु ने सत्य की सतत खोज की जो दृष्टि दी, अनाग्रह का जो मनोभाव दिया, वह सर्वथा आधुनिक है और मौलिक आचार में सुस्थिर रहने की जो चेतना दी, वह चिरंतन है। उनकी स्मृति और उपासना का अर्थ यही है कि हम आधुनिक होने के साथ-साथ चिरंतन रहें और चिरंतन रहने के साथ-साथ आधुनिक बनें। इस समन्वय में हमारा और जनताह्वदोनों का श्रेय है। आज का बुद्धिवादी युग सहज ही भौतिकता की ओर आकृष्ट होता जा रहा है। आज की वैज्ञानिक प्रगति बहुत बार अध्यात्म को चुनौती देती जा रही है।

इस परिस्थिति में हमारा कर्तव्य होना चाहिए कि हम जनमानस को अध्यात्म की ओर आकृष्ट करें तथा विज्ञान की चुनौती को झेलने की क्षमता प्राप्त करें। यह सब साधना के उत्कर्ष से ही प्राप्त हो सकता है। साधना के उत्कर्ष का अर्थ हैहविचारों में अनाग्रह बढ़े, सत्य के अन्वेषण की वृत्ति बढ़े, आचार में पवित्रता बढ़े और अहिंसा और आत्मस्थता की भावना बढ़े। इस वृद्धि के प्रारंभ से ही हमारा यह द्विशताब्दी का आयोजन अत्यंत सफल होगा।

*तेरापंथ द्विशताब्दी के पुण्य पर्व पर प्रदत्त संदेश

इस आयोजन की सफल संपन्नता की दृष्टि से श्रावक भी अत्यंत जागरूक हैं। इस अवसर पर उनका भी यह कर्तव्य है कि वे सत्य-निष्ठा और प्रामाणिकता को विकसित करें, संगठन और एकता को बनाए रखने के लिए प्रयत्नशील रहें।

इन दो सौ वर्षों में हमने आचार-संपदा, श्रुत-संपदा और अनुशासन-संपदा का जो विकास किया है, उसे सूक्ष्म दृष्टि से देखें और तीसरे शतक में उससे अधिक विकास करने का संकल्प लें।

६४. तेरापंथ द्विशताब्दी समारोह

तेरापंथ द्विशताब्दी समारोह एक महान धार्मिक समारोह है। यह क्यों मनाया जा रहा है? इसका संक्षिप्त उत्तर यही है कि इसकी पृष्ठभूमि में अनुशासन, संगठन, व्यवस्था और एकता की ज्वलंत प्रेरणाएं हैं। उन्हीं से प्रेरित होकर हम सब यह समारोह मना रहे हैं। यह कैसे मनाया जाएगा, इस प्रश्न का उत्तर सरल है। धार्मिक समारोह जैसे मनाया जाना चाहिए, वैसे ही मनाया जाएगा।

इस महान अवसर पर प्रत्येक तेरापंथी का यह कर्तव्य है कि वह अपना कुछ-न-कुछ धार्मिक योग दे

१. तेरापंथ के इतिहास व साहित्य को स्वयं पढ़े और दूसरों को उसकी जानकारी दे।
२. कोई शुभ संकल्प कर त्याग स्वीकार करे, जिसकी सुखद स्मृति जीवन भर बनी रहें।
३. प्रामाणिकता और सत्य-निष्ठा का अनुकरणीय उदाहरण उपस्थित करे।
४. ब्रह्मचर्य-व्रत स्वीकार करे।
५. जैन-दर्शन का विशेष अध्ययन बने या दूसरों को वैसा बनने में सहयोगी बने।
६. अणुव्रती बने या दूसरों को बनाने का प्रयत्न करे।
७. यथेष्ट समय तक धर्म-प्रचार के लिए अपना जीवन खपाने का संकल्प करे।
८. अनुशासन व संगठन को विकसित करने का प्रयत्न करे।

इस प्रकार अपने विशिष्ट आचरणों की स्वीकृति के द्वारा ही तेरापंथी

श्रावक द्विशताब्दी को गौरवपूर्ण बना सकते हैं।

धन-संग्रह आदि जो सामाजिक प्रयत्न हैं, वे व्यवस्था के लिए हैं। धार्मिक समारोह की सफलता उनसे नहीं है। वह तो आत्मा, जीवन और वातावरण को पवित्र बनाने से ही होगी।

मुझे विश्वास है, प्रत्येक तेरापंथी इस समारोह को सफल बनाने के लक्ष्य से यथाशक्ति अपना धार्मिक योग देगा।

सामाजिक परंपराओं में परिवर्तन अपेक्षित है

विवाह आदि की सामाजिक परंपराएं अधिक बोझिल एवं अनैतिक वातावरण की सर्जक बन गई हैं। बहुत-से व्यक्ति अप्रामाणिकता को नहीं चाहते हुए भी इन परंपराओं को निभाने के लिये अप्रामाणिक बनते हैं। समाज में सुव्यवस्था हो तो इन पर सहज ही नियंत्रण हो सकता है। किंतु स्पष्ट है कि वैसा कोई शक्तिशाली सामाजिक संगठन नहीं है। संस्कार की जो बुद्धि धार्मिक बनने के प्रथम चरण में स्वयं आ जानी चाहिए, वह नहीं आती, इसलिए धर्म की प्रगति में हेतुभूत विशिष्ट नियमों की अपेक्षा इसके लिए बराबर प्रयत्न करना होता है।

जब तक उक्त परंपराओं में परिवर्तन नहीं होता, तब तक अणुव्रती बनने में भी लोग कठिनाई का अनुभव करते हैं। परिवर्तन करना कठिन होता है, किंतु उसके होने पर लोग बहुत-सी कठिनाइयों से सहज ही बच जाते हैं। *तेरापंथ* *द्विशताब्दी* के अवसर पर इस विषय में एक उद्बोधन मिले, यह अपेक्षित है। वह इस प्रकार है—

१. जन्म-संस्कार के उपलक्ष्य में प्रचलित परंपराओं—हूछक, दशोटन आदि को बंद किया जाए।
२. विवाह संस्कार के उपलक्ष्य में प्रचलित परंपराओं—हदहेज, ठहराव, वर-विक्रय, कन्या-विक्रय आदि को बंद किया जाए। पर्दा न रखा जाए।
३. मृत्यु-संस्कार के उपलक्ष्य में प्रचलित परंपराओं—हशोक-चिह्न, शोक की बैठक, विधवा को कोने में बिठाना आदि की अवधि को कम किया जाए।
मृत्यु-भोज न किया जाए।
शोक-स्वरूप काले वस्त्र न पहनाए जाएं।

६६. साधु-संघ की तेजस्विता

आज तेरापंथ द्विशताब्दी का दूसरा चरण प्रारंभ हो रहा है। उसका पहला चरण हमने तेरापंथ-प्रणेता आचार्य भिक्षु के दीक्षा-स्थलहकेलवा में प्रारंभ किया था। उसके द्वितीय चरण का शुभारंभ उनकी बोधिस्थलीह राजनगर में हो रहा है। इस अवसर पर दर्शन, साहित्य और शिक्षा की परिषदों का आयोजन हो रहा है। चूंकि आचार्य भिक्षु अपने युग के एक महान दार्शनिक, साहित्य-सेवी और प्रशिक्षक थे, इसलिए उनकी स्मृति में दर्शन, साहित्य और शिक्षा संबंधी परिषदों का आयोजन किया जाना बिलकुल उपयुक्त ही है।

चारित्र बल को बढ़ाएं

आचार्य भिक्षु के जीवन-चरित्र को जब हम पढ़ते हैं तो एक बात बहुत स्पष्ट रूप से सामने आती है कि उनके जीवन में उजागर होनेवाले सभी गुण साधना की देन थे। दूसरे शब्दों में उनके जीवन और व्यक्तित्व का केन्द्र-बिंदु साधना ही था। उन्होंने हमें जो कुछ दिया उसे एक शब्द में चरित्र-बल कहा जा सकता है, जो कि साधना-सापेक्ष है। हमारा काम है कि हम उस बल को बढ़ाएं। तेरापंथ की द्विशताब्दी मनाने का हमारा मूलभूत उद्देश्य यही है। इस संदर्भ में एक बात समझ लेने की है। चरित्र-बल बढ़ाने की बात मात्र साधु-साध्वियों के लिए अपेक्षित नहीं है, अपितु श्रावक-श्राविकाओं के लिए भी आवश्यक है। अलबत्ता साधु-साध्वियों के लिए वह अपेक्षाकृत ज्यादा आवश्यक है, क्योंकि उनके जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य साधना ही होता है।

दस सूत्रीय साधना-क्रम

हम जानते हैं कि जो व्यक्ति साधु बनता है, वह पांच महाव्रतों की उपसंपदा स्वीकार करता है। दीक्षा के समय यह स्वीकरण संकल्प के स्तर पर होता है। उसकी पुष्टि के लिए भावना, योग, स्वाध्याय, ध्यान आदि

का आलंबन लिया जाता है। यही हमारा साधना-पक्ष है। हालांकि यह क्रम कोई नया नहीं है, तथापि मुझे यह मानने और कहने में कोई संकोच नहीं है कि इसकी कुछ-कुछ विस्मृति-सी हो रही है। मैं चाहता हूँ कि इसे पुनः स्मृति में लिया जाए। तेरापंथ द्विशताब्दी का यह पुण्य प्रसंग यह प्रेरणा लेने का सुंदर अवसर है। मैंने इस मौके पर एक दस सूत्रीय नवीन साधना-क्रम प्रस्तुत किया है। मुझे इस बात की प्रसन्नता है कि संघ के साधुओं ने भी संयम की स्थिरता एवं जीवन की पवित्रता के लिए इस साधना-क्रम को उपादेय माना है। मेरा विश्वास बोलता है कि इससे साधु-जीवन में एक नई चमक और निखार आएगा।

निर्धारित पाठ्यक्रम की अनिवार्यता

दूसरी बात है शिक्षा की। हमारे धर्मसंघ के प्रायः-प्रायः साधु-साध्वियां साक्षर हैं। हमारे श्रावक-श्राविकाएं भी निरक्षर न रहें, यह बात जैन श्वेतांबर तेरापंथी महासभा द्वारा सोची जा रही है। साक्षरता के बाद शिक्षा का प्रश्न है। हमारे धर्मसंघ के बहुत-से साधु-साध्वियां शिक्षित हैं तो अनेक ऐसे भी हैं, जिन्हें विशेष शिक्षा प्राप्त नहीं हुई है अथवा जो उसके लिए उत्सुक नहीं हैं। मैं मानता हूँ कि ज्ञान हमारे जीवन-विकास की यात्रा के लिए अत्यंत आवश्यक है, बल्कि अनिवार्य है। यह मुक्ति का एक मार्ग है। इसलिए इस पुण्य प्रसंग पर कहना चाहता हूँ कि तेरापंथ धर्मसंघ में दीक्षित होनेवाले प्रत्येक व्यक्ति के लिए निर्धारित पाठ्यक्रम अनिवार्य हो।

गाथा-प्रणाली का पुनर्मूल्यांकन

परिग्रह की दृष्टि से हम अकिंचन हैं सेवा और श्रुतोपासना से धनी हैं। इस परिदृश्य में हम हमारे धर्मसंघ में चालू गाथा-प्रणाली का मूल्यांकन करें। लिपिकला को प्रोत्साहित करने तथा हस्तलिखित ग्रंथों की अभिवृद्धि के लिए धर्मसंघ के चतुर्थ अनुशास्ता श्रीमज्जयाचार्य ने गाथा-प्रणाली का प्रचलन किया। अब तक यह केवल साधुओं के लिए थी। पर अब से यह साध्वियों के लिए भी प्रयुक्त होगी। साथ ही इसकी उपयोगिता में भी वृद्धि हो, ऐसी व्यवस्था सोची गई है।

संतुलित विकास का सूत्र

मैं तेरापंथ द्विशताब्दी के इस अवसर को बहुत मूल्यवान समझता

हूँ। इस प्रसंग को कैसे मनाया जाए, इस संदर्भ में वर्षों से चिंतन चल रहा था। मेरी ऐसी मान्यता है कि युग को, उसकी अपेक्षा एवं भावना को समझे बिना चलना, कोई अच्छी-बात नहीं है। साथ ही जो अपरिवर्तनीय हैं, मौलिक हैं, उन तत्त्वों की उपेक्षा की जाए, यह भी कोई समझदारी की बात नहीं है। संतुलित विकास के लिए इन दोनों दृष्टियों से चिंतन करते रहना नितांत आवश्यक है। अभी-अभी मैंने जो साप्ताहिक एकांतवास किया, उसका मुख्य उद्देश्य यही था। हालांकि इस एकांतवास में स्वाध्याय और ध्यान का भी क्रम चलता था, तथापि इस मुख्य उद्देश्य पर ही हम अधिक केंद्रित रहे। एकांतवास के चिंतन से जो बातें सामने आईं, उनका निष्कर्ष यह है कि धर्म के मौलिक स्वरूप को और अधिक पुष्ट किया जाए तथा बातें परिवर्तन के लायक हैं, उनमें आवश्यक परिवर्तन लाया जाए।

चिंतन-निष्कर्ष के तीन बिंदुओं की चर्चा मैंने पूर्व में की। और भी कुछ निष्कर्षों तक पहुंच चुके हैं तथा कुछ बातें अभी तक उच्चस्तरीय चिंतन की प्रक्रिया में हैं। तेरापंथ द्विशताब्दी के तृतीय चरण (मर्यादा महोत्सव) के अवसर पर संभवतः उन्हें भी मैं प्रस्तुत कर सकूंगा।

साधु-संघ की चतुर्मुखी प्रगति से इसका कार्यक्षेत्र विस्तृत हुआ है। अणुव्रत-आंदोलन ने कार्यक्षेत्र की सीमा को और अधिक विस्तार दिया है। पर मेरे इस कथन का यह तात्पर्य नहीं कि मैं इस कार्य-भार को कम करना चाहता हूँ। कार्य तो करना ही है। उसे नहीं करने का कोई प्रश्न ही नहीं है। किंतु अकेला व्यक्ति इसकी पूरी जिम्मेदारी वहन करे, इसमें कठिनाई है। इस परिप्रेक्ष्य में मैं कोई ऐसी व्यवस्था करना चाहता हूँ, जिसमें हमारा साध्य भी सधे और उलझनें भी नहीं बढ़ें।

आज मैंने जो कुछ कहा है, वह स्वार्थ-सा लगता है। क्यों? यह इसलिए कि जन-साधारण के लिए उसमें बहुत ही कम है। पर मैं नहीं मानता कि साधु-संघ के हित-चिंतन में जनता का हित-संपादन नहीं है। साधु-संघ जितना अधिक तेजस्वी बनेगा, वह समाज के लिए उतना ही अधिक प्रेरक एवं उपयोगी होगा।

हम स्वयं प्रगति करेंगे और सबकी प्रगति में हेतुभूत बनेंगे, इसी संकल्प के साथ हम तेरापंथ द्विशताब्दी के इस द्वितीय चरण में गति बढ़ाएं।

राजसमंद, २५ सितम्बर १९६०

६७ : भारतीय दर्शन की पृष्ठभूमि

जन-साधारण के लिए दर्शन एक जटिल विषय है। किंतु मैं इसे जटिल कहकर आपको अधिक जटिलता में नहीं डालूँगा। वैसे तो कोई भी विषय, जो अज्ञात है, व्यक्ति के लिए जटिल होता ही है। आप देखें खेती करना एक वकील के लिए जटिल होता है। इसी प्रकार एक किसान के लिए वकालत करना जटिल होता है। इस जटिलता को कम करने के लिए प्रत्येक विषय की पूर्व भूमिका की आवश्यकता होती ही है। उसके आधार पर किसी भी विषय में अच्छे ढंग से प्रवेश करना संगम हो जाता है।

दर्शन क्या है?

धर्म की भांति दर्शन को समझना भी जीवन-विकास के लिए अत्यंत अपेक्षित है। हम दूध पीते हैं, यह एक बात है। किंतु दूध क्यों पिया जाता है, यह हमें दर्शन ही बताएगा। दर्शन को समझने से पहले हमें यह जानना होगा कि धर्म और दर्शन में अंतर क्या है? दर्शन चिंतनप्रधान होता है, जबकि धर्म साधना-प्रधान। सोचना दर्शन का काम है और चलाना धर्म का। पत्नी ने कहाह 'उठो, घर में चोर घुस आए हैं।' पति ने अर्धनिद्रा में ही उत्तर देते हुए कहाह 'मुझे मालूम है।' इसी *मालूम-मालूम* में चोर सारा समान लेकर चंपत हो गए। इससे यह स्पष्ट होता है कि केवल जाननाह दर्शन मनुष्य के लिए पर्याप्त नहीं होता है। जीवन-विकास के लिए यह आवश्यक होता है कि दर्शन का प्रवाह धर्म की ओर मुड़े। केवल दर्शन से जीवन-निर्माण संभव नहीं। धार्मिक कह सकता है कि जब अंत में धर्म की ओर मुड़ना ही है तो फिर दर्शन की गुत्थियों में उलझें ही क्यों। किंतु मैं तो यह मानता हूँ कि सच्चा धार्मिक बनने के लिए आपको दर्शन जानना ही होगा। दया हमारा धर्म है। किंतु हम दया किसकी करें और क्यों करें, यह हमें दर्शन से ही पूछना पड़ेगा।

दर्शन की व्यापकता

दर्शन चिंतन-धारा का नाम ही है। वह किसी व्यक्तिविशेष या वर्ग-

विशेष से बंधा हुआ नहीं है। साधारण-से-साधारण परिवार में महान-से-महान दार्शनिक जन्म ले सकता है। अतः यह किसी की बपौती नहीं। जैन-परंपरा में भगवान ऋषभदेव से लेकर महावीर तक चौबीस महान दार्शनिक हुए हैं। वे सब स्वतंत्र चिंतक थे। सत्य-प्रतिपादन में उन्होंने दूसरों का कभी आश्रय नहीं लिया। उनके भाषा-प्रयोग में 'मैं ऐसा कहता हूँ' यही मिलता है, क्योंकि वे अपने-आपमें पूर्ण थे, साक्षात् सत्य-द्रष्टा थे। पूर्ण कभी दूसरों का आधार नहीं लेता। आधार अधूरे को ही चाहिए। भारत में और भी अनेक दार्शनिक हुए, जिन्होंने सत्य को खोजा और फिर जनता के समक्ष रखा। इसलिए मैं भारत को कृषिप्रधान ही नहीं, ऋषिप्रधान भी मानता हूँ। जहां यहां के किसानों ने शरीर की सुरक्षा की, वहीं यहां के ऋषियों ने उसकी आत्मा का बचाया, संस्कृति और सभ्यता को अक्षुण्ण रखा। अन्यथा आज अन्य देशों की भांति भारत भी न जाने कितना भौतिकता के दलदल में फंसा होता।

दर्शन की पृष्ठभूमि-आत्मवाद

भारतीय दर्शनों की पृष्ठभूमि सदा से आत्मवाद रही है। आत्मा से अर्थ है कि मैं कौन हूँ और इसे जानना ही दर्शन है। जैन, बौद्ध और वैदिक-हृदये तीन भारत के प्रमुख दर्शन हैं, जो कि श्रमण और ब्राह्मण-हृदय दो परंपराओं में विभक्त हैं। जैन और बौद्ध श्रमण-परंपरा के अंतर्गत आते हैं और वैदिक ब्राह्मण-परंपरा में। किंतु दर्शनों का आधार आत्मवाद ही रहा है, क्योंकि जैन-आगम के प्रथम अंग-हृदय-आचारांग का प्रारंभ भी इसी प्रश्न से होता है—'इहमेगिसिं' णो सण्णा भवइ, तंजहाहपुरित्थमाओ वा दिसाओ आगओ अहंमसिं'.....हमनुष्य यह नहीं जानता कि मैं किस दिशा से आया हूँ? मैं पूर्व दिशा से आया हूँ ?

मेरा पुनर्जन्म होगा या नहीं?.....

जो यह जान लेता है, वही आत्मवादी है। (एक विचार जैन और बौद्ध परंपराओं को भी अनात्मवादी मानता है) बौद्ध-दर्शन ने कहा:ह

सुकुराणि असाधूनि, अइइत्तनो अहितानि च।

जं वइहितं च साधु च तं वई परम दुक्करं॥

हआत्मा को गिरानेवाले कार्य सुकर होते हैं, किंतु जो उसके हित को साधें, वे दुष्कर हैं।

इसी प्रकार आत्मा के अस्तित्व के संबंध में दोनों ही दर्शनों में और भी अनेकों स्पष्ट उल्लेख मिलते हैं।

वृहदारण्यक में ऋषि सनत्कुमार से नारद पूछते हैं:ह

कस्मिन्नु भगवओ विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवितह?

हवह क्या है, जिसे जान लेने से सभी तत्त्व जान लिए जाते हैंह?

ऋषि ने कहाह

आत्मिन सल्वरे पृष्टे श्रुते मते।

विज्ञाते इदं सर्वं विज्ञातं भवतीति ॥

हआत्म-तत्त्वों को जान लेने मात्र से शेष सभी तत्त्व स्वयं जान लिए जाते हैं।

इस प्रकार समस्त भारतीय दर्शनों का मूलभूत आधार आत्मा ही है।

विज्ञान के अंतिम चरण से दर्शन का प्रारंभ

आज विज्ञान अपने उत्कर्ष पर है। पर वह अभौतिक तत्त्वों से परे केवल भौतिकता पर आधारित है। यही कारण है कि वह संसार के लिए लाभप्रद सिद्ध नहीं हो रहा है। किंतु आज उसका चिंतन भी आत्मवाद की ओर मुड़ा है। उसे यह अनुभव हो रहा है कि जड़ जगत से परे भी कोई अदृश्य शक्ति होनी चाहिए, जो उसे इच्छित कार्यों की ओर ढकेलती है। बस, इसी बिंदु से दर्शन का प्रारंभ है। इसी का यह फलित है कि विज्ञान का आचार्य दर्शन के क, ख, ग..... को सीखने में अब लगा है।

चार्वाक-दर्शन

भारतीय दर्शनों में केवल वृहस्पति का चार्वाक-दर्शन आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता। उसका प्रमुख सिद्धांत यही है कि मृत्यु के पश्चात प्राणी का कोई अस्तित्व नहीं है। इसलिए कहा गया हैह

यावज्जीवेत सुखं जीवेत, ऋण कृत्वा घृतं पिबेत्।

भष्मीभूतस्य देहस्य, पुनरागमन कुतः?

किंतु यथार्थ में हम इसे सुखवाद से अधिक और क्या कह सकते हैंह? जहां आस्तिक दर्शन को समझने के लिए कठिन आयास करना पड़ता है, वहीं प्रत्येक के लिए उपभोग्य एवं सहजगम्य होने के कारण यह अनायास ही हर-एक को लुभा लेता है। बावजूद इसके, कुछेक आचार्यों के सिवाय भारत में इसे किसी ने भी दर्शन के रूप में स्वीकार नहीं किया है।

फिर बहुत सच तो यह है कि इस चिंतन-धारा को भारतीय मानस ने अधिक सम्मान नहीं दिया। तत्त्व-प्रतिपादन में इसकी सम्मति भी स्वीकार्य नहीं रही।

विमति सम्मति वाऽपि, नास्तिकस्य न मृग्यते।

परलोकात्ममोक्षेषु, यस्य मुह्यति शेषी॥

वैसे 'मैं हूँ या नहीं?' जो इसी प्रश्न में उलझ गया, उसकी सम्मति भी क्या मूल्य रखती है?

सब का लक्ष्य भी एक

जहां भारतीय दर्शनों की पृष्ठभूमि आत्मवाद है, वहां साध्य भी एक मोक्ष ही है। हां, साधना के प्रकार भिन्न हो सकते हैं, किंतु लक्ष्य में कोई अंतर नहीं। अपेक्षित तो यह है कि साधक अनाग्रह बुद्धि से सत्य की खोज करे, धर्म का हार्द समझे। आचार्य भिक्षु ने इस संदर्भ में एक बहुत सुंदर दृष्टांत दिया है—सास प्रति दिन पीपल की पूजा करती थी। एक दिन अस्वस्थता के कारण वह पूजा के लिए जा नहीं सकी। उसने अपनी बहू से कहा—'बहू! आज पीपल यहां ले आ। मैं यहीं पूजा कर लूंगी।' बहू गई और पीपल को रस्सी से बांधकर खींचने लगी। खींचते-खींचते उसके हाथ लहुलुहान हो गए, किंतु पीपल टस से मस नहीं हुआ। आखिर एक बुद्धिमान व्यक्ति ने सारी स्थिति जानकर उसे समझाया कि पीपल लाने का तात्पर्य पीपल का वृक्ष लाने से नहीं है। तू पीपल की एक डाली तोड़कर ले जा। तेरा उद्देश्य पूरा जो जाएगा।

इसी प्रकार हम केवल शब्दों के आग्रह में न पड़कर उसकी भावना को समझें। यदि दुराग्रह न हो तो ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग आदि सबका समन्वय हो सकता है।

दर्शन के साथ धर्म की अनिवार्यता

दर्शन के साथ धर्म भी हमारे जीवन में अनिवार्य रूप से आए, यह नितांत आवश्यक है। धर्म दर्शन का नवनीत है। राजा ने सुना कि राजपुरोहित ने सपरिवार दीक्षा ले ली है। उसने उसकी संपत्ति को अपने महलों में लाने का आदेश दे दिया। रानी को यह ज्ञात हुआ तो वह व्याकुल हो उठी। उसने राजा से कहा—'स्वामी! हमारे द्वारा प्रदत्त जिस धन को राजपुरोहित ने छोड़ दिया है, उसका वमन कर दिया है, उसे आप पुनः राजकोष के लिए महलों में मंगवा रहे हैं। क्या यह वमन-पान नहीं

हैल? आप तो तत्त्ववेत्ता हैं। महान दार्शनिक हैं। क्या तत्त्व-वेत्ता होने की सार्थकता यही है? दार्शनिकता का यही फलित है? आप गंभीरता से चिंतन करे कि आपका यह चिंतन ओर निर्णय आपकी प्रतिष्ठा के कहा तक अनुकूल है। आपके के लिए कहां तक श्रेयस्कर है?’ राजा ने सुना तो अवाक रह गया। उसने जाना की दर्शन के साथ धर्म कितना आवश्यक है। केवल दर्शन से जीवनरथ कभी आगे नहीं बढ़ सकता। अतः मैं पुनः इसी बात को दुहराता हुआ आप से कहूंगा कि दर्शन का प्रवाह धर्म की ओर मुड़ना चाहिए, अन्यथा वह अपने-आपमें एकांकी और अधूरा रहेगा।

६८. धर्म और भारतीय दर्शन

श्रेयस और प्रेयस

यह एक प्रश्न ही नहीं, जटिल प्रश्न है कि धर्म क्योंह? उद्देश्य स्पष्ट नहीं होता, तब तक कोई कैसे चलेह? धर्म किसलिए हैह? समाज की व्यवस्था के लिए अथवा किसी दूसरे उद्देश्य की पूर्ति के लिएह? यदि वह समाज की व्यवस्था के लिए ही है, तब धर्म का मानी होता है समाज-व्यवस्था के नियम। धर्म का उद्देश्य कोई दूसरा है तो वह क्या हैह? उसका समाज से कोई संबंध है या नहींह?

दार्शनिक चिंतन की दो धाराएं हैंहअस्तिवाद और नास्तिवाद। अस्तिवाद आत्मा, कर्म और पुनर्जन्म को स्वीकार करता है, इसलिए वह प्रेयस के अतिरिक्त श्रेयस को भी स्वीकार करता है। नास्तिवाद आत्मा आदि को स्वीकार नहीं करता, इसलिए वह श्रेयस को भी स्वीकार नहीं करता। नास्तिवाद-चिंतन में न तो धर्म नाम का कोई तत्त्व ही है और न उसका समाज की समृद्धि से परे कुछ लक्ष्य या उद्देश्य भी।

धर्म का उद्देश्य

अस्तिवादी का ऐहिक उद्देश्य जहां समाज की सुख-सुविधा है, वहां उसका पारलौकिक उद्देश्य हैहआत्म-विकास। इस साध्य की द्वैधता से ही साधन-द्वैत की सृष्टि होती है। जो समाज का अभ्युदय करे, वह समाज की मर्यादा है और जो आत्मा का अभ्युदय करे, वह धर्म है। धर्म से भी समाज का अभ्युदय होता है, पर वह उसका साध्य नहीं है। सामाजिक मर्यादा से भी धर्माचरण सुलभ होता है, पर वह उसका साध्य नहीं होता।

धर्म : व्यक्ति और समष्टि

यद्यपि धर्म आत्म-शुद्धि के लिए है, फिर भी काफी दूर तक उससे समाज का कल्याण होता है, इसलिए वह उससे सर्वथा असंबद्ध नहीं रहता। व्यक्ति की सत्प्रवृत्ति से समष्टि की कठिनाइयां टलती हैं, बढ़ती

नहीं। समष्टि का एक-एक अंग धर्म का अनुशीलन करता है, इसलिए वह समाज के लिए है, यह भी कहा जा सकता है। उद्देश्य की दृष्टि से वह न व्यक्ति के लिए है और न समष्टि के लिए। आचरण की दृष्टि से वह व्यक्ति के लिए भी है, समष्टि के लिए भी। भौतिक उद्देश्यों की पूर्ति की दृष्टि से देखें तो वह न समाज के लिए है और न व्यक्ति के लिए भी। आत्म-शुद्धि की दृष्टि से देखें तो वह व्यक्ति और समाज दोनों के लिए है। समाज के लिए जो आवश्यक हो, वह सब धर्म है, यह बात आस्तिक दर्शन स्वीकार नहीं करते। इसलिए धर्म और सामाजिकता में पूर्णव्य नहीं रहता।

धर्म की परिभाषा

धर्म उत्कृष्ट मंगल है। उसका रूप अहिंसा, संयम और तपमय है। वह ऋजु आत्मा में ठहरता है। जैन-सूत्र कहते हैं कि आत्महित के लिए धर्म स्वीकार करना चाहिए। आत्महित में सब का हित है। आत्मा का भी और शरीर का भी। एक समाज का अंग होता है, इसलिए सबका भी। एक से सबका और सबसे एक का हित वहीं हो सकता है, जहां अहिंसा हो। अहिंसा ही सर्वजीवक्षेमकरी है। हिंसा यदि समाज में सर्वथा परिहार्य नहीं तो अपरिहार्य भी नहीं। अहिंसा की भित्ति में धर्म और समाज की एकता है, हिंसा की स्थिति में दोनों की दो दिशाएं हैं।

प्रेयस की कामना करनेवाला बंधता है और श्रेयस की आराधना करनेवाला मुक्त होता है। बंधन दुःख है, मुक्ति सुख। **सर्व परवशं दुःखं, सर्वमात्मवशं सुखम्।** इसमें पर का अर्थ दूसरे व्यक्ति ही नहीं, किंतु आत्मातिरिक्त पदार्थमात्र है। इस पर से जो समझा जा सकता है कि प्रेयस ही पर है और स्व है श्रेयस। यही धर्म का प्रेयस से पृथक्करण होता है और वह भौतिकता की परिधि से दूर हटकर आध्यात्मिक बन जाता है।

धर्म से समाज और राज्य की व्यवस्था का अभेद करने से किसी का भी स्वरूप निर्विकार नहीं रहता। धर्म सार्वभौम होते हुए भी किसी को विवश नहीं करता।

राज्य के नियम अपनी सीमा में किसी को छूट नहीं देते। राज्य और समाज के साथ धर्म का अनुचित संबंध जोड़ने से ही सांप्रदायिक आवेग बढ़ा। आत्मौपम्य की भावना को चीरकर एकदेशीय सत्ता की स्थापना में

धर्म का सदुपयोग हो नहीं सकता।

आज जो धर्म का अस्तित्व लड़खड़ा रहा है, उसका मूल कारण है वह उसके उद्देश्य की भ्रंति। समाज अस्तित्वादी और नास्तित्वादी दोनों की दृष्टि का वेध होता है, जबकि धर्म केवल अस्तित्वादी के लिए है। धर्म के नाम पर अनात्मवादी कुछ भी करना नहीं चाहता। चाहे भी कैसेह? उसके साध्य का धर्म सर्वांगसाधन नहीं बनता। यहीं से भूतवाद का श्रीगणेश होता है।

भूतवाद और धर्म

भूतवाद से निकलता हैहसुख से जीओ, जीवन को समृद्धिपूर्ण बनाओ, आवश्यकताओं का विस्तार और उनकी यथेष्ट पूर्ति करो। यही सुख का मूल मंत्र है। धर्म कहता हैहसंयम से जीओ, जीवन को संयमप्रधान बनाओ, आवश्यकताओं को कम करो। यही सुख का बीज है। आवश्यकता की पूर्ति करना मात्र रोग की बाह्य चिकित्सा है, सुख नहीं।

सुधार का केंद्र

व्यक्ति अपना सुधार नहीं चाहता, समाज का सुधार चाहता है। पर स्वयं को सुधारे बिना समाज का सुधार नहीं हो सकता। अपनी बुराई का प्रतिकार किए बिना समाज के सुधार की बात सोचना धर्म की मौलिकता को न समझने का परिणाम है। जो व्यक्ति धर्म-निष्ठ होता है, वह कहता हैह'प्रत्येक का सुधार ही समाज का सुधार है।'

धर्म किसलिएह?

भगवान महावीर ने कहा हैह'ऐहिक या पारलौकिक पौद्गलिक सुख के लिए धर्म मत करो, श्लाघा-प्रतिष्ठा के लिए धर्म मत करो। धर्म करो आत्म-शुद्धि के लिएहकर्ममलावरण को दूर करने के लिए।'

धर्म का साध्य आत्म-मुक्तिहनिरावरण अवस्था है। आत्मा अनंत ज्ञानमय अरूपी सत्ता है। आत्मा से ज्ञान सर्वथा पृथक नहीं है और न ज्ञान से आत्मा ही पृथक है। जो पूर्वापरिभूत ज्ञान है, वह आत्मा है। उसका स्वरूप पूर्ण समता है। निश्चय दृष्टि में वही धर्म है। अहिंसा, सत्य आदि उसी के साधन हैं। भौतिक सुख आत्मा का स्वभाव नहीं है, इसलिए वह न तो धर्म है और न धर्म का साध्य ही। इसलिए उसकी सिद्धि के लिए धर्म करना उद्देश्य के प्रतिकूल हो जाता है।

मिश्रण का फल

इसका अर्थ यह नहीं होता कि भारतीय दार्शनिकों ने ऐहिक अभ्युदय की नितांत उपेक्षा की है। सच तो यह है कि ऐसा अभ्युदय उनका चरम लक्ष्य नहीं रहा। यह भी स्पष्ट है कि भारतीय दर्शनों ने धर्म और ऐहिक अभ्युदय का सम्मिश्रण नहीं किया। धर्म के द्वारा अभ्युदय होता है, पर धर्म उसके लिए नहीं है। धर्म को अफीम, विष आदि कहा गया या कहा जाता है। वह इन दोनों के सम्मिश्रण का कुफल है। धर्म अपनी मर्यादा से दूर हटकर राज्य की सत्ता में घुल-मिलकर विष से भी अधिक घातक बन जाता है। वह वाणी धर्मद्रोही व्यक्तियों की है, ऐसा नहीं माना जा सकता। धर्म के महान प्रवक्ता भगवान महावीर की वाणी में भी यही है।

विसं तु पीयं जह कालकूडं, हणाइ सत्थं जह कुग्गहीयं ।

एसे व धम्मो विसओववन्नो, हणाइ वेयाल इवाविवन्नो ॥

अच्छी-से-अच्छी वस्तु का भी दुरुपयोग होता है, इस उक्ति का धर्म भी अपवाद नहीं है और न रहा है। धन और राज्य की सत्ता में विलीन धर्म को विष कहा जाए, इसमें कोई अतिरेक भी नहीं है।

धर्म और संप्रदाय

संप्रदाय और मतवादों की प्रवृत्तियों द्वारा भारत में भी धर्म की कम विडंबना नहीं हुई है। निःश्रेयस की सिद्धि के लिए तत्त्वज्ञान है। उसकी गोद में जल्प, वितंडा, छल, जातिवाद और निग्रह-स्थान जैसे फूल निखर रहे हैं। यह क्या है? धर्म की सुरक्षा है या मतवादों की? धर्म समभाव में है या जय-पराजय में? धर्म वहीं कुंठित होता है, जहां धार्मिक लोग धर्म की अपेक्षा मतवादों की प्रतिष्ठा का अधिक खयाल करने लग जाते हैं। यह हुआ है, इसलिए धर्म का सूर्य आज पूर्व जैसा तेजस्वी नहीं बन रहा।

धर्म और दर्शन का उपादेयता

सुना जाता है कि आज के मनुष्य में धर्म के प्रति अश्रद्धा है। वह दर्शन को निठल्ले दिमाग का उतार-चढ़ाव मानता है। किंतु मैं इससे सहमत नहीं हूँ। धर्म में ऐसी कोई बात ही नहीं, जो उसके प्रति अश्रद्धा करे। आज का जिज्ञासु और खोजी मनुष्य दर्शन की अवहेलना करे, यह न मानने जैसी बात है। मैं क्या हूँ, कहां से आया हूँ और कहां जाना है इन प्रश्नों का उत्तर न ले, यह नहीं जंचता। उत्तर अस्ति या नास्ति किसी भी रूप में हो, वह अपना-अपना खयाल और प्रेरणा है, पर इस चिंतन में

दर्शन की प्रायोजनिकता तो अपने-आप सध जाती है। दर्शन का क्षेत्र व्यापक है। उसमें जड़-चेतन-पदार्थमात्र की मीमांसा की जाती है। समभाव हो तो वस्तुमात्र का पर्यालोचन धर्म की आराधना है। आत्मचिंतन जैसे धर्म्यध्यान है, ठीक वैसे ही एक परमाणु का चिंतन भी धर्म्यध्यान है।

ध्यान धर्म का प्रमुख अंग है। उसमें जिस प्रकार स्वरूप का आलंबन होता है, उसी प्रकार पर-रूप का भी होता है। धर्म और दर्शन के संबंध का भी यही कारण है।

भारतीय धर्मों की यह एक बड़ी विशेषता है कि वे *आर्ष वाक्य* तक ही सीमित नहीं रहते, परीक्षा की कसौटी पर भी अबाध गति से चलते हैं। आज का युग परीक्षाप्रधान है। इसलिए यदि सद्भावनापूर्वक धर्म की परख की जाए तो उसका किसी भी आधुनिकतम वाद के साथ मेल खा सकता है। और वह *वादों* की कमियों या विकारों को मिटा व्यापक अशांति, विग्रह व शोषण को चुनौती दे सकता है।

भारत के दार्शनिक भी अपनी पुरानी मनोवृत्ति को कुछ बदलें, मंडनात्मक नीति से काम करें, धर्म के नाम पर फैले हुए विकारों को उखाड़ फेंकें, समता के तत्त्वों को आगे लाएं तो भारतीय धर्म, दूसरे शब्दों में *अहिंसा धर्म* विश्व के लिए एक महान वरदान हो सकता है।

६९. भारतीय दर्शन और धर्म

भारतीय दर्शन संसार का एक प्रमुख दर्शन है। इस दर्शन की जैन, बौद्ध एवं वैदिकहृये तीन मुख्य धाराएं हैं। इन्हें श्रमण-परंपरा एवं ब्राह्मण-परंपराहृइन दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। श्रमण-परंपरा में जैन व बौद्धहृये दो दर्शन समाविष्ट हैं, जबकि वैदिक दर्शन ब्राह्मण-परंपरा में आता है। इसकी भी अनेक शाखाएं-प्रशाखाएं हैं। पर एक बात बहुत स्पष्ट है कि जैन, बौद्ध एवं वैदिकहृतीनों दर्शनों का मूलभूत आधार आत्मवाद रहा है। आत्मा यानी मैं कौन हूंहृइस रहस्य को जानना ही दर्शन है।

दर्शन और धर्म

गहराई से देखा जाए तो जैन, बौद्ध और वैदिकहृइन तीनों भारतीय दर्शनों की पृष्ठभूमि में ही नहीं, बल्कि प्रायः सभी दर्शनों की पृष्ठभूमि में आत्मा है, मोक्ष है। अलबत्ता नामांतर हो सकता है, रूपांतर हो सकता है। आत्म-स्वरूप की प्राप्ति या मोक्ष तक पहुंचने के लिए सभी दर्शनों में अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह आदि को समान रूप से साधन के रूप में स्वीकार किया गया है। इन तत्त्वों की साधना का नाम धर्म है। यहां हमें दर्शन एवं धर्म के अंतर को स्पष्ट समझ लेना चाहिए। दर्शन चिंतनप्रधान है, जबकि धर्म साधना-प्रधान। दूसरे शब्दों में दर्शन आत्मा, परमात्मा, मोक्ष आदि का स्वरूप स्पष्ट करता है, जबकि धर्म उन तक पहुंचने का मार्ग है। दर्शन का काम धर्म नहीं कर सकता और धर्म का काम दर्शन नहीं कर सकता। इस अपेक्षा से दोनों अधूरे हैं। दोनों के मिलने से पूरी बात बनती है। यदि व्यक्ति के समक्ष अपने लक्ष्य की स्पष्टता ही नहीं होगी तो वह गति कैसे करेगाहृ? किस दिशा में करेगाहृ? उसकी दृष्टि सम्यक कैसे होगीहृ? इसी प्रकार लक्ष्य की स्पष्टता के बाद यदि वह उस दिशा में पदन्यास नहीं करेगा तो भी उसकी लक्ष्य-संसिद्धि असंभव है।

इसलिए दर्शन और धर्म की समन्विति आवश्यक है। पहले व्यक्ति सम्यक दर्शन के माध्यम से अपने लक्ष्य की स्पष्टता करे और फिर उस दिशा में संपूर्ण आस्था के साथ चले। यानी दर्शन का प्रवाह धर्म की ओर मुड़े। यदि ऐसा नहीं होता है, फिर तो वही बात हुई कि पत्नी पति को घर में चोरों के घुसने और चोरी करने की बात कहती रही तथा पति हर बार 'मुझे मालूम है' ऐसा कहता रहा। इस मालूम-मालूम में ही चोर घर की तिजोरी तोड़कर सारा कीमती माल ले गए।

सेठ और सेठानी दोनों सो रहे थे। मध्य रात्रि में सहसा लोगों की आहट से सेठानी की नींद टूटी और उसने देखा कि घर में चोर घुस आए हैं। उसने सेठ को जगाते हुए कहा 'उठिए, घर में चोर घुस आए हैं।' सेठ गहरी नींद में था। उसने नींद में ही कहा 'तुम चिंता मत करो, मुझे सब मालूम है।' थोड़ी ही देर में चोरों ने तिजोरी के ताले तोड़ लिए। सेठानी ने पुनः सेठ को जगाने का प्रयत्न करते हुए कहा 'अब तो उठिए, चोरों ने तिजोरी तोड़ ली है।' सेठ ने नींद में ही वह पहलेवाली शब्दावली दोहराई 'तुम चिंता मत करो, मुझे सब मालूम है।' इसके साथ ही वह पुनः खरटि भरने लगा। चोरों ने तिजोरी खोलकर उसमें से सारे आभूषण व नगदी निकाल ली और उनकी पोटली बांधने लगे। सेठानी ने तीसरी बार सेठ को फिर जगाने का प्रयास करते हुए कहा 'चोरों ने सारे आभूषण और नगदी निकाल ली है।' सेठ ने इस बार भी पूर्ववत् ही कहा 'तुम चिंता मत करो, मुझे सब मालूम है।' सेठानी सेठ की बात पर हैरान थी, पर आखिर करती भी क्या? चोर अब पोटली लेकर चलने की तैयारी में थे। सेठानी ने एक प्रयत्न और किया सेठ को जगाने का। उसने कहा 'चोर सारा धन-माल लेकर जाने की तैयारी में हैं। अब तो उठ जाएं।' पर इस बार भी उसे अपने प्रयत्न में कोई सफलता नहीं मिली। सेठ से उसे वही उत्तर मिला 'तुम चिंता मत करो, मुझे सब मालूम है।' चोर सारा धन लेकर चलते बने। सेठानी के धीरज का बांध टूट गया। इस बार उसने सेठ को जोर से झकझोरते हुए उठा ही दिया और आक्रोश के स्वर में बोली 'आपके इस मालूम होने का अर्थ क्या है? चोर तो सारा धन लेकर चले गए हैं।'

बंधुओ! मैं भी यही बात कह रहा था। आत्मा, परमात्मा, मोक्ष आदि के स्वरूप का सम्यक ज्ञान होने के पश्चात भी यदि व्यक्ति इनकी प्राप्ति

के लिए जागरूक नहीं बनता, इन तक पहुंचने के मार्ग पर नहीं चलता, इनकी साधना-आराधना नहीं करता तो उसके इस जानने का क्या उपयोग है? इस परिप्रेक्ष्य में दर्शन के धर्म की ओर मुड़ने की अपेक्षा की बात को समझें। मैं मानता हूँ, यदि लोग इस दृष्टि से जागरूक बन जाएं तो उनके जीवन की धारा ही बदल जाए, उनका जीवन सहज धार्मिक बन जाए।

राजनगर

३१ जुलाई १९६०

७०. दर्शन समाज-व्यवस्था का आधार है

दर्शन जीवन से संबद्ध है

दर्शन एक गहन तत्त्व है। इसका जितना चिंतन, मनन और अनुशीलन होता है, उतने ही नए-नए रहस्य उपलब्ध होते हैं। किंतु उसे मात्र चिंतन, मनन और अनुशीलन का तत्त्व मान लेना एक भयंकर भूल है। वास्तव में वह, जितना चिंतन, मनन और अनुशीलन का तत्त्व है, उतना ही जीवन से संबद्ध है। जैन, बौद्ध और वैदिक दर्शन का आचार-पक्ष भी तो दर्शन द्वारा ही तो पुष्ट है। अतः गहराई से देखा जाए तो आचार भी दर्शन में समाहित है।

समाज का आधार

हम ध्यान दें, दर्शन का आधार समाज नहीं है, परंतु समाज निश्चित रूप से दर्शन के आधार पर टिका हुआ है। यदि उसे दर्शन का आधार प्राप्त न हो तो उसका अस्तित्व नहीं रह सकता। मूलतः दर्शन की अपेक्षा सबको है। यह अलग बात है कि बहुत-से लोग उसे दर्शन नाम से नहीं जानते हैं।

अहिंसा और सत्य दोनों ही तत्त्व दर्शन की देन हैं। सहयोग इनका ही परिणाम है। चूंकि समाज पारस्परिक सहयोग के बिना नहीं चल सकता, इसलिए दर्शन समाज के लिए आवश्यक है, बल्कि अनिवार्य है।

सामाजिक अव्यवस्था का कारण

समाज में जहां-कहीं अव्यवस्था फैलती है, उसका मूलभूत कारण हैह्यसामाजिक व्यक्तियों की आत्म-व्यवस्था में होनेवाली शिथिलता। व्यक्ति-व्यक्ति की यह शिथिलता सामाजिक अव्यवस्था पैदा करती है। यह शिथिलता क्यों आती है? इसकी कारण-मीमांसा में जाएं तो यह तथ्य प्रकट होता है कि आत्म-दर्शन का अभाव यह शिथिलता उत्पन्न करता है। आत्मस्थ व्यक्तियों के समूह में कभी कोई अव्यवस्था नहीं होती, बल्कि

होने का अवकाश ही नहीं रहती। अतः यह आवश्यक है कि व्यक्ति-व्यक्ति आत्मस्थ बने। फिर जो लोग समाज की व्यवस्था करने का दायित्व संभालते हैं, उनके लिए तो यह नितांत आवश्यक है कि वे इस दायित्व को संभालने से पूर्व स्वयं आत्मस्थ बनें, आत्म-दर्शन को प्राप्त करें।

तेरापंथ : जीवंत व्यवस्था का निदर्शन

तेरापंथ धर्मसंघ का उदाहरण आपके सामने है। वह एक समाज ही है। दो सौ वर्षों से वह एक सुदृढ़ एवं सुखद व्यवस्था में चल रहा है। उसकी व्यवस्था जीवंत व्यवस्था का निदर्शन है। उसकी सुदृढ़ता का आधार हैह्रआचार्य भिक्षु का दर्शन। वे एक आत्मदर्शी महापुरुष थे। उन्होंने बहुतंत्र के युग में एकतंत्र की स्थापना की। पर इसमें भी उल्लेखनीय बात यह है कि उन्होंने एकतंत्र में भी जनतंत्र को स्थान दिया। यद्यपि संघ का विधान उन्होंने स्वयं ही बनाया, तथापि सभी की सहमति आवश्यक समझी। इस अपेक्षा से मैंने कहा कि तेरापंथ की समाज-व्यवस्था का मूलाधार आचार्य भिक्षु का दर्शन है। इससे स्पष्ट है कि समाज की सुव्यवस्था के लिए दर्शन की नितांत अपेक्षा है।

राजसमंद

२६ सितंबर १९६०

७१. पुरुषार्थ का मूल्य

हमारे सामने दो सिद्धांत हैं—पुरुषार्थवाद और नियतिवाद। यदि तत्त्व-दृष्टि से विचार करें तो हमें मानना होगा कि दोनों सिद्धांत अपने-अपने स्थान पर महत्त्वपूर्ण हैं। दोनों ही सिद्धांतों की कड़ी एक जीवन से इस प्रकार जुड़ी हुई है कि दोनों परस्पर अभिन्न-से हो गए हैं। पर जहां हम जीवन-निर्माण की दृष्टि से विचार करते हैं, वहां हमें पुरुषार्थवाद को महत्त्व देना आवश्यक हो जाता है। क्यों? यह इसीलिए कि पुरुषार्थ को महत्त्व दिए बिना कार्य सिद्ध नहीं हो सकता। भगवान महावीर ने भी कहा है कि पुरुषार्थ के अभाव में व्यवहार नहीं चल सकता।

प्रसंग शकडालपुत्र का

शकडालपुत्र एकांत नियतिवादी था। वह पुरुषार्थ को महत्त्व नहीं देता था। उसके मिट्टी के बर्तनों का बड़ा व्यवसाय था। एक बार उसका भगवान महावीर से संपर्क हुआ। भगवान महावीर ने शकडालपुत्र से पूछा—‘क्या कर रहे हो?’ शकडालपुत्र ने उत्तर दिया—‘घड़े बना रहा हूँ।’ इस पर भगवान ने कहा—‘तुम्हारी मान्यतानुसार तो घड़े बन रहे हैं, तुम बना नहीं रहे हो।’ शकडालपुत्र भगवान महावीर के इस कथन का कोई प्रतिवाद नहीं कर सका। वह चिंतन की मुद्रा में मौन रहा। अब भगवान महावीर ने उससे कहा—‘शकडालपुत्र! मान लो, तुम्हारे इन घड़ों को कोई कंकर मारकर फोड़ देता है। ऐसी स्थिति में तुम क्या करोगे?’ छूटते ही शकडालपुत्र बोला—‘फोड़ कैसे दे? मैं फोड़नेवाले का सिर फोड़ डालूंगा।’ भगवान महावीर ने कहा—‘शकडालपुत्र! तुम फिर भूल कर रहे हो। तुम्हारी मान्यतानुसार घड़े फोड़नेवाला कोई है ही नहीं। घड़े तो फूट रहे हैं। फिर शिर किसका फोड़ोगे?’ भगवान महावीर के इस प्रश्न ने उसके चिंतन को फिर झकझोरा। कुछ क्षण तक यथार्थ के पारावार में गोते लगाता हुआ वह मोती चुन लाया। उसका चिंतन बदल गया और वह पुरुषार्थवाद के महत्त्व को समझ गया।

देखने का कोण

बन्धुओ! यह मात्र शकडालपुत्र की बात नहीं है। जो भी व्यक्ति यथार्थवादी दृष्टिकोण के साथ चिंतन करेगा, वह पुरुषार्थ के महत्त्व को बहुत आसानी से समझ जाएगा। इसमें उलझन जैसी कोई बात है ही नहीं। उलझन या न समझने की बात तो वहां खड़ी होती है, जहां व्यक्ति पूर्वाग्रह से बंधा हुआ होता है। ऐसी स्थिति में तो एक यह पुरुषार्थ क्या, कोई भी सचाई व्यक्ति की पकड़ में नहीं आ सकेगी।

सच्चा मेधावी

मेरी दृष्टि में स्थितियों को समझकर जो समुचित पुरुषार्थ करता है, वही सच्चा मेधावी है। ग्रंथों को पढ़कर केवल ज्ञान का भार ढोनेवाला मेधावी नहीं है। मैं नहीं समझता, यदि व्यक्ति में अशुभ के परित्याग एवं श्रेय को उपलब्ध करने के लिए पुरुषार्थ नहीं रहा तो वह अपने जीवन में सफलता की एक भी सीढ़ी कैसे चढ़ सकेगा?

धर्म पुरुषार्थ का क्षेत्र है

धर्म पुरुषार्थ का क्षेत्र है। अकर्मण्यता या निठल्लेपन को धर्म कैसे कहा जा सकता है? पर यह एक कटु सचाई है कि धार्मिक कहलाकर भी जो पुरुषार्थ में विश्वास नहीं करते, वे अकर्मण्य बन जाते हैं। यह अकर्मण्यता उन्हें श्रेय-पथ पर अग्रसर नहीं होने देती।

जन्माष्टमी का संदेश

आज जन्माष्टमी का दिन है। श्रीकृष्ण आज के दिन धरती पर आए थे। उनका जीवन-चरित्र पुरुषार्थ का असाधारण उत्प्रेरक है। उनकी जीवन-गाथा पुरुषार्थवाद का सजीव चित्रण करती-सी प्रतीत होती है। हर व्यक्ति को उनके जीवन से प्रेरणा ग्रहण करके स्वयं को सम्यक पुरुषार्थ में नियोजित करना चाहिए। जन्माष्टमी का यही संदेश है।

राजसमंद

१४ अगस्त १९६०

७२. लोक-व्यवस्था और धर्मास्तिकाय

इस दृश्य जगत के साथ अनेक प्रकार की मान्यताएं जुड़ी हुई हैं। एक विचारधारावाले पृथ्वी को शेषनाग के सिर पर टिकी हुई मानते हैं तो दूसरी विचारधारावाले वृषभ के सींग पर। इसी क्रम में तीसरी विचारधारावाले उसे कच्छप पर अवस्थित मानते हैं। जैन-दर्शन का चिंतन उनसे भिन्न है। उसके अनुसार सबसे नीचे आकाश है। आकाश सर्वत्र व्याप्त है। आकाश के ऊपर तनुवात और उसके ऊपर घनवायु है। घनवायु सघन है। घनवात, उदधि, घनोदधि, पृथ्वीह्वये क्रमशः एक-दूसरे के ऊपर स्थित हैं। पृथ्वी पर त्रस और स्थावर जीव तथा अजीव पदार्थ स्थित हैं।

लोक्यते नयन गोचरी क्रियते इति लोकः। लोक का व्युत्पत्तिक अर्थ हैहजो चक्षु का विषय बन सके। **षड्रव्यात्मको लोकः।** लोक में धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल, पुद्गलास्तिकाय और जीवास्तिकायह्वये छह द्रव्य हैं और अलोक में केवल आकाश। अलोक असीम है और लोक ससीम। हालांकि ससीम होता हुआ भी लोक बहुत विस्तृत है, तथापि अलोक की अपेक्षा वह बहुत छोटा है। दृष्टांत की भाषा में अलोक एक कपड़े का थान है तो लोक उसके एक छिद्र के समान है। छह द्रव्यों में एक काल को छोड़कर शेष पांचों द्रव्य अस्तिकाय हैं। इन्हें *पंचास्तिकाय* कहा जाता है।

धर्मास्तिकाय एक यौगिक शब्द है। इसमें धर्म, अस्ति और कायह्वये तीन शब्द हैं। धर्म शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है। जिस प्रकार सैन्धव शब्द नमक, घोड़ा और सिन्धुवासी के अर्थ में प्रयुक्त होता है, उसी तरह धर्म शब्द भी भिन्न-भिन्न संदर्भों में भिन्न-भिन्न अर्थों में व्यवहृत होता है। यहां धर्म शब्द मोक्ष-साधन के अर्थ में नहीं, बल्कि एक द्रव्य के अर्थ में प्रयुक्त है। अस्ति शब्द का अर्थ प्रदेशह्वयव तथा काय का अर्थ पिंड, उपचय, समूह या संघात है। धर्म द्रव्य के अवयवों के समूह को

धर्मास्तिकाय कहते हैं। उसकी सहायता के बिना कोई भी चेतन-अचेतन पदार्थ किसी भी प्रकार की गति-क्रिया नहीं कर सकता। यदि गतिमान पदार्थों में वायु को सहायक मानें तो यह युक्तिसंगत नहीं है। उसका सहायक कौन होगा? इस प्रकार अनवस्था दोष आ जाएगा। वैज्ञानिकों के ईश्वर तत्त्व से उसका कुछ सामंजस्य हो सकता है।

धर्मास्तिकाय एक इकाई है। उसके खंड नहीं होते। उसके काल्पनिक विभाग असंख्य हो सकते हैं। कपड़े, लकड़ी आदि की तरह इसके टुकड़े नहीं होते, केवल काल्पनिक टुकड़े किए जाते हैं। मोटे तौर पर इसे यों समझा जा सकता है एक चालीस गज कपड़े का थान है। उसके एक-एक गज के काल्पनिक टुकड़े तो चालीस हो सकते हैं, पर न फाड़ने पर वह एक है और अखंड है। वैसे ही परमाणु के माप से धर्मास्तिकाय के भी कल्पना से असंख्य टुकड़े हो सकते हैं, पर अकल्पित रूप में वह अखंड है। कल्पना के आधार पर धर्मास्तिकाय के तीन भेद किए गए हैं ह्रस्वकंध, देश और प्रदेश।

तदेकीभावः स्कन्धः ह्रस्वकंध का अर्थ है परमाणुओं का एकीभाव।

बुद्धि-कल्पितो वस्त्वंशो देशः ह्रस्वस्तु का बुद्धि-कल्पित अणुभूत अंश देश कहलाता है।

निरंशः प्रदेशः ह्रस्वस्तु के परमाणुतुल्य निरंश अंश को प्रदेश कहा जाता है।

धर्मास्तिकाय असंख्यप्रदेशात्मक, अविभाज्य पिंड, लोकव्यापी, अनादि-अनंत तथा स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और संस्थानरहित है। गतिमान पदार्थों की गति में सहायक बनना उसका गुण है। धर्मास्तिकाय सहायता देने में किसी भी समय, किसी के प्रति अनुदार नहीं होता और न किसी को प्रेरणा ही देता है। इसलिए वह गति का उदासीन सहायक है। कोई भी पदार्थ उसकी उपेक्षा करके गति नहीं कर सकता। पटरी के बिना रेलगाड़ी चल नहीं सकती। पटरी रेल को प्रेरणा भी नहीं देती और सहायता के लिए जी भी नहीं चुराती। यही स्थिति धर्मास्तिकाय की है। शब्द की अभिव्यक्ति, आंखों की पलकों का टिमटिमाना, मानसिक चंचलता, रक्त का संचार, स्पंदन आदि सारी क्रियाएं धर्मास्तिकाय की सहायता से ही होती हैं।

संभवत्सरी : मानवता का पर्व

इतिहास संभवत्सरी का महत्त्व भले आंके या न आंके, किंतु जैन-परंपरा में इसका बहुत बड़ा महत्त्व है। मैं तो मानता हूँ कि यह पर्व मात्र जैनों का नहीं, अपितु मानवता का पर्व है। संभवत्सरी न तो किसी तीर्थंकरविशेष की जन्म-जयंती या निर्वाण-जयंती है और न किसी संप्रदायविशेष का प्रवर्तन-दिवस। यह मानव-जाति की संस्कृति और सभ्यता के अभ्युदय का आदि दिवस है।

जैन-मान्यता के अनुसार काल के दो विभाग हैं—अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी। अभी हम अवसर्पिणी काल में जी रहे हैं। इस अवसर्पिणी से पहले उत्सर्पिणी के अंतिम चरण की बात है। उस समय के मानव, मानव कहलाकर भी मानवता से अनभिज्ञ थे। मांस ही उनका प्रमुख भोजन था। गरमी के दिनों में भयंकर गरमी और सर्दी के मौसम में भयंकर सर्दी पड़ती थी। इसलिए वे लोग पहाड़ों की गुफाओं में ही रहते थे।

समय बदला और प्रकृति में भी एक बहुत बड़ा परिवर्तन हुआ। अमृत आदि तत्त्वों की वर्षा हुई और धरती पर एक नया वातावरण शुरू हो गया। अचानक हुए इस परिवर्तन को देखकर पहाड़ों की गुफाओं में रहनेवाले मानव हर्षित हो उठे। धरती की रमणीयता को देखकर वे मुग्ध हो गए और उसी दिन से गुफाओं को छोड़ बाहर मैदानों में रहने लगे। मांस भोजन छोड़ने के लिए संकल्पबद्ध हो गए और अहिंसा, मैत्री आदि के आधार पर जीवन बिताने का निर्णय कर लिया। वह दिन आज का ही दिन है, जिसे हम मानवता का प्रथम दिन मानते हैं। इस दृष्टि से मैं सोचता हूँ कि इस दिन का महत्त्व केवल जैनों के लिए नहीं, बल्कि संपूर्ण मानव-जाति के लिए है।

इस तरह संभवत्सरी आमोद-प्रमोद का पर्व नहीं, अहिंसा और संयम का पर्व है। अहिंसा और संयम की आराधना ही इसकी आराधना है।

हमारे लिए आज के दिन का अर्थ हैह्रपिछले वर्ष में होनेवाली भूलों की आलोचना और भविष्य के लिए शुभ संकल्प। आज मैं भी चाहता हूँ कि दिन-भर मौन रहकर आत्म-चिंतन करूँ, किंतु हजारों की इस जन-मेदिनी को उसकी प्रेरणा देना भी तो मेरा धर्म हो जाता है। आज के कार्यक्रम में सदा आनेवालों के सिवाय यदा-कदा आनेवाले तथा कभी नहीं आनेवाले भी उपस्थित होते हैं। इसलिए उनको भी मैं आत्म-चिंतन का मार्ग सुझाऊँ, यह मेरे लिए आवश्यक है। आत्म-चिंतन से व्यक्ति अतीत के भार से मुक्त होता है और भविष्य के लिए शुभ संकल्पवान बनता है। संक्षेप में सम्बत्सरी पर्व हमें यही संदेश देता है कि हम आत्म-चिंतन करें और आपस के मनमुटाव को भूल जाएं तथा मैत्री और भ्रातृत्व-भाव बढ़ाएं। जिस लक्ष्य को लेकर यह दिवस मनाया जाता है, उसी के अनुरूप अहिंसा और मैत्री का विकास करें।

७४. सनाथता : अनाथता

लगभग ढाई हजार वर्ष पुरानी बात है। कुमार अनाथी विपुल वैभव के बीच अपना जीवन-यापन कर रहा था। समस्त भौतिक सुख-सुविधाएं उसके चरणों में लुटती थीं। धन-संपत्ति का अटूट संयोग था। रूप-लावण्यमय शरीर-संपदा से संपन्न कुमार यौवन की अंगड़ाइयों में अठखेलियां कर रहा था। लगभग सारा दिन विलासिता और मादकता में बीतता। उसके लिए धर्म-कर्म पुराणों के पद मात्र थे।

दिन बीते। कुमार का शरीर रोगग्रस्त हुआ। उपचार-पर-उपचार हुआ। मानो उपचार की बाढ़ ही आ गई। माता, पिता, भाई, बहिन, पत्नी, मित्रजन सभी ने अपने-अपने इष्ट का स्मरण किया और कुमार को रोग-मुक्त कर देने की प्रार्थना की। परंतु सारे प्रयत्न व्यर्थ रहे। कर्मों के चक्रव्यूह में सब की कामनाएं चूर-चूर हो गईं।

कुमार ने देखा, उसका रोग बढ़ता जा रहा है। अति निकट संबंधी भी उसे त्राण देने में असमर्थ हैं। उसे अपने भौतिक अभ्युदय की अहमन्यता पर तरस आया। उसका अहं विगलित हुआ। भौतिक संबंधों के प्रतिबिंब में उसे संसार की असारता की अटूट शृंखला दीख पड़ी। विसर्जन और समर्पण की भावनाओं ने आनंद का स्रोत खोल दिया। बस, उलट-पुलट का खेल हो गया। देखते-देखते ही वेदना की अरुणिमा सुख की श्वेतिका में बदल गई। उसे अपना लक्ष्य साक्षात् दीख पड़ा।

कुछ दिन गुजरे। लक्ष्य की निश्चितता ने जीवन को मोड़ दिया। उसे लगा, संसार मात्र एक विडंबना है। भगवान महावीर की वाणी के अप्रतिम प्रकाश में उसने देखाह

सर्वं विलियं गीयं, सर्वं नष्ट विडंबियं।

सर्वे आभरणा भारा, सर्वे कामा दुहावहा॥

विवेक-जागरण की इस बेला में अंतस्चेतना की प्रेरणा प्रबल हो

उठी। संसार के सभी संबंधों और पारिवारिक व्यूह को तोड़कर कुमार संयम-साधना पर अग्रसर हो गया। उभरता हुआ यौवन कृतकृत्य हुआ। शारीरिक दीप्ति बढ़ गई। भागवती दीक्षा के कुलिश-कठोर कष्टों को वह सहने लगा। अब कुमार अनाथी से वह मुनि अनाथी बन गया।

ग्रामानुग्राम विहार करते हुए मुनि अनाथी राजगृह आए। नगर के बहिर्भाग में स्थित एक रम्य उद्यान में ठहरे। अपने कार्यों से निवृत्त हो कायोत्सर्ग में अवस्थित हो गए। संयोग से मगध-सम्राट श्रेणिक अपने परिकर से परिवेष्टित हो उसी उद्यान में क्रीड़ा करने आया। अकस्मात् उसकी दृष्टि कायोत्सर्ग-स्थित मुनि पर पड़ी। मुनि की दीप्ति ने उसे आकर्षित किया। भोग की अरुणिमा में योग की ओर बढ़ चलनेवाले मुनि का शारीरिक सौंदर्य और उसकी तेजस्विता से वह स्तब्ध रह गया। उसने सोचा, यह कैसी विडंबना! भोग की इस तरुण अवस्था में योग को आश्रय देनेवाला यह कौन है? क्या स्वयं सौंदर्य ही मूर्त रूप में यहां उपस्थित हुआ है? क्या यह काम-रूप है या मनुष्यह? जिज्ञासाओं का तांता-सा लग गया। प्रश्न स्वयं असमाहित रहकर भी अन्याय प्रश्नों को बढ़ाते चले जा रहे थे। जिज्ञासाओं का सातत्य ही जीवन-विकास का सूत्र है। मगध-सम्राट श्रेणिक मुनि अनाथी के निकट आया और प्रश्न की भाषा में बोलाह 'मुनेह! आपकी भरे-पूरे यौवन की अवस्था है। आपके समक्ष ऐसी क्या मजबूरी थी, जो इस अवस्था में आपने यह योग का मार्ग अंगीकार किया हैह?'

मुनि मौन थे। कायोत्सर्ग में लीन थे। कुछ क्षणों पश्चात् उन्होंने कायोत्सर्ग संपन्न किया। आंखें खोलीं तो देखा कि सम्राट श्रेणिक सामने खड़ा है। उसका परिकर भी उसके साथ है। उन्होंने श्रेणिक की जिज्ञासा के उत्तर में कहाह 'मैं अनाथ हूं। मेरा कोई नाथ नहीं है। इस स्थिति में मैं संसार में कैसे रह सकता थाह? अतः मैं साधु बन गया।'

मुनि के आभामंडल की पवित्रता एवं आंखों की चमक ने सम्राट के मन को मोह लिया। यद्यपि अनाथ होने की बात उसे थोड़ी विचित्र-सी लगी, तथापि जब मुनि स्वयं अपने मुख से ऐसा कह रहे थे, तब उसके लिए अविश्वास का भी कोई कारण नहीं था। मूलतः तो अनाथी मुनि ने रहस्यमयी भाषा में उत्तर दिया था। उस रहस्य को सम्राट नहीं पकड़ पाया। ऐसी स्थिति में उसके मन में मुनि के प्रति एक करुणा की भावना

पैदा हुई। उसने कहाह 'मुनेह! यदि अनाथ होने के कारण आपको मुनि होने के लिए बाध्य होना पड़ा है तो मेरा निवेदन है कि अब आपके सामने ऐसी कोई मजबूरी नहीं रहेगी। आज से मैं आपका नाथ बनता हूँ। इस सुकोमल काया को देखकर मेरा मन द्रवित हो रहा है। आप इस साधु के बाने को छोड़कर सुखपूर्वक सांसारिक सुखों का भोग करें।'

सम्राट के नाथ बनने की बात सुनकर अनाथी मुनि मुस्कराए। उन्होंने कहाह 'तुम मेरे नाथ बनने को तैयार हो। पर तुम नाथ क्या बनोगेह! तुम तो स्वयं ही अनाथ हो!'

सम्राट को मुनि के ये शब्द तीर की तरह चुभे। मुनि के मुंह स्वयं को *अनाथ* सुन उसके अहं पर गहरी चोट हुई। मन में आवेश उभरने लगा। फिर चिंतन आयाहसंभव है, ये मुझे पहचानते नहीं है। अन्यथा ऐसी अज्ञानभरी बात मेरी लिए नहीं कहते। उसने कहाह 'आपने शायद मुझे पहचाना नहीं है। मैं मगध का अधिपति श्रेणिक हूँ। मेरी राज्य-सीमा दूर-दूर तक फैली है। मेरे पास विशाल सेना है। मेरा समृद्ध राजकोष है। मेरा विशाल अंतःपुर है।..... फिर मैं *अनाथ* कैसे हुआह?'

सम्राट श्रेणिक के इस प्रश्न के उत्तर में अनाथी मुनि ने कहाह 'मगधेशह! मेरे कथन को अन्यथा लेने की किंचित भी अपेक्षा नहीं है, क्योंकि मैंने तुम्हें जो *अनाथ* कहा है, वह बिलकुल यथार्थ है। पहले तुम सनाथ और अनाथ के वास्तविक स्वरूप को समझो। उसको समझने के बाद तुम स्वयं निर्णय करो कि तुम सनाथ हो या अनाथ। मैंने तुम्हें जो *अनाथ* कहा है, वह सही है या नहीं। सुनोह

- जिणरै जग में आधार नहीं, दुख में कोई दावेदार नहीं।
संकट में पड़्यो अनाथ स्वयं, बो बणसी किणरो नाथ?
- घर में धन रो भंडार भर्यो, जेवर स्यूं सारो अंग जड़्यो।
पर पड़्यो लोभ में मम्मण ज्युं, बो बणसी किणरो नाथ?
- जो करै हकूमत लाखां पर, पर नहिं निज कानां-आंखां पर।
भूं पर विकार री रेख रहै, बो बणसी किणरो नाथ?
- इंद्रिय-विषयां रो दास बण्यो, छल कुटिल कलह रै साथ सण्यो।
नित तण्यो माण कै पाण, बता रो बणसी किणरो नाथ?

- दयनीय दशा में जो जीवै, नित फाड़-फाड़ कपड़ो सीवै।
व्यसनी विष पीवै सुधा छोड़, बो बणसी किणरो नाथ?
- अपणै सम ही पर प्राण गिणै, निज सम पर सुख-दुख छाण गिणै।
नहिं हणै हणावै जीव जगत रा, बो नीज पर रो नाथ?
- जोखिम में जाती ज्यान रखै, शरणागत-जन री शान रखै।
सरखै दिल हरखै योगक्षेम कर, बो निज पर नाथ॥
नाथ नाथ क्यूं करै अरे श्रेणिक! तू स्वयं अनाथ।
नाथ अनाथ अर्थ समझ्यां बिन व्यर्थ करै क्यूं बात?

ये पद्य बहुत सीधे हैं। इनकी विस्तृत व्याख्या करने की मैं अपेक्षा नहीं समझता। बस, इनका सार-संक्षेप बता देता हूँ। हूँ हूँ संसार संकटों से घिरा हुआ है। व्याधि, बुढ़ापा और मौत हूँ तीन बड़े संकट हैं, दुःख हैं। जिसके इन दुःखों को बंटानेवाला कोई नहीं है, संकटों से बचानेवाला नहीं है, वह अनाथ है। घर में करोड़ों की संपत्ति संगृहीत होने के बावजूद जो लोभ में फंसा रहता है, वह अनाथ है। जो लाखों लोगों पर तो अनुशासन करता है, पर स्वयं की आंखों और कानों पर अनुशासन नहीं रख सकता, जिसकी भौंओं पर विकार की रेखाएं सदा उभरी रहती हैं, वह सचमुच अनाथ है। जो इंद्रिय-विषयों का दास बना हुआ है, जिसका जीवन व्यसनी है, छल, कलह और अहंकार से सना है, वह असंदिग्ध रूप में अनाथ है। और जो स्वयं अनाथ है, वह दूसरों का नाथ कैसे बन सकता है?

जो दूसरों के प्राणों को स्वयं के प्राणों के समान देखता है, दूसरों के सुख-दुःख को स्वयं के सुख-दुःख के तुल्य मानता है, जगत के प्राणियों का न स्वयं हनन करता है और न करवाता है, वही वास्तव में अपना और दूसरों का नाथ है। जो दूसरों के संकटों का हरण करता है, अपने शरणागत को अपेक्षित सुरक्षा प्रदान करके उसकी शान रखता है, अंतर दिल से उसका उसका योगक्षेम करता है, वही स्व और पर का सच्चा नाथ है।

मुनि अनाथी ने अनाथ और सनाथ का उपर्युक्त स्वरूप बताते हुए अपनी आत्म-कथा सुनाई, सांसारिक सुख-सुविधाओं, माता-पिता व पत्नी को छोड़कर इस युवावस्था में दीक्षित होने के कारण से सम्राट श्रेणिक को परिचित करवाया।

मुनि की अनाथता और सनाथता की इस अंतर-स्पर्शी विवेचना और मुनि की मार्मिक आत्म-कथा सुन सम्राट श्रेणिक को एक दिव्य दृष्टि मिली। वह प्रतिबोधित होकर मुनि अनाथी के चरणों में प्रणत हो गया और निवेदन की भाषा में बोलाह 'मुनेह्! आज तक मैं अज्ञान में था। इसलिए स्वयं को नाथ मानने का भ्रम पाल रहा था। पर आज आप के उद्बोधन ने मेरे भ्रम को तोड़कर वास्तविकता से परिचित करवा दिया है। मैं अपनी अनाथता को अनुभव करने लगा हूँ। सच्चे नाथ तो आप हैं। आप अनुग्रह करके मेरे नाथ बनें। अज्ञानवश आपका नाथ बनने की बात कहने की जो धृष्टता की, उसके लिए मेरे मन में गहरा अनुताप का भाव है। अपनी इस धृष्टता और अपराध के लिए मैं आपसे पुनः-पुनः क्षमा-प्रार्थी हूँ। आप क्षमा के सागर हैं, इसलिए आप मुझे क्षमा करें।'

बंधुओ और बहिनोह्! यह तो हुई सम्राट श्रेणिक और अनाथी मुनि की बात। आप अपनी बात सोचें। मुनि अनाथी ने सनाथना और अनाथता की जो कसौटियां बताई हैं, उन पर स्वयं को कसें और देखें कि आप किस भूमिका में हैंह्? आपमें कितनी सनाथता है और कितनी अनाथता हैह्? यदि सचमुच ही आप सच्चे सनाथ बनना चाहते हैं तो आपको पूर्ण संयम के पथ पर आना होगा। पर मैं जानता हूँ कि सभी व्यक्ति पूर्ण संयम के पथ को स्वीकार नहीं कर सकते। कोई-कोई व्यक्ति ही यह साहस जुटा पाता है। पर एक सीमा तक तो संयम की आराधना हर कोई कर सकता है। और जो जिस सीमा तक संयम की आराधना करेगा, वह उस सीमा तक अपनी अनाथता से मुक्ति पाकर सनाथता को प्राप्त कर लेगा। अणुव्रत के छोटे-छोटे-संकल्प व्यक्ति को अनाथता से सनाथता की दिशा में ले जाने का अभियान है। आप भी इसके संकल्पों को स्वीकार करके इस अभियान के साथ जुड़ें। आप अपने जीवन में एक अपूर्व आत्म-तोष का अनुभव कर सकेंगे।

७५. जन्म-दिवस आत्म-निरीक्षण की प्रेरणा है

प्राणी का जन्म लेना संसार की एक सामान्य घटना है, पर यदि व्यक्ति प्रेरणा ले सके तो उसका हर जन्म-दिवस उसे एक नई प्रेरणा देने के लिए आता है। उसके लिए एक नया संदेश लेकर उपस्थित होता है। पर आप बताएं कि कितने व्यक्ति ऐसे हैं, जो जन्म-दिवस से नई प्रेरणा लेते हैं, उसके लिए संदेश को सुनते हैं और अपनी पुरानी स्मृतियों को ताजा करते हैं ? सामान्यतः लोग इस दिन अल्पाहार अल्पोपहार आदि का आयोजन कर प्रसन्न और संतुष्ट हो जाते हैं। मैं लोगों की खुशी में बाधक नहीं बनना चाहता, पर इतना सुनिश्चित है कि ऐसा करना व्यक्ति के लिए कोई महत्वपूर्ण बात नहीं है। यदि जन्म-दिन को महत्वपूर्ण बनाना है तो व्यक्ति को इस दिन अपना आत्म-निरीक्षण करना चाहिए, गहराई से आत्म-निरीक्षण करना चाहिए। विगत वर्ष का पूरा लेखा-जोखा करना चाहिए। पूरे वर्ष की अपनी सफलताओं और विफलताओं की झांकियों का सिंहावलोकन करना चाहिए। साथ ही आगामी वर्ष के लिए अपने जीवन के प्रति यह मंगल कामना करनी चाहिए कि वह विशेष पवित्र बने, विशेष कार्यकारी बने। मैं आज मेरे स्वयं के लिए यह मंगल भाव करता हूँ कि मेरा आगामी वर्ष स्व-पर के कल्याण में पहले से भी अधिक स्फूर्तिमान एवं प्रगतिशील बने। मैं अपने स्वीकृत पथ पर अस्खलित चरण बढ़ाता हुआ स्वयं अधिक अंतर्मुखी बनने की प्रेरणा पाऊँ और जन-जन को भी आध्यात्मिक जीवन जीने की अभिप्रेरणा दूँ। **यश्च जानाति सेवितुम्** के अनुसार सेवा को जानकर मैं वास्तविक सेवा करूँ। क्या आप जानते हैं कि सेवा का क्या अर्थ है ? सेवा का अर्थ है जन-जन के जीवन को जगाने का सतत प्रयत्न करते रहना। अणुव्रत-आंदोलन इसी प्रेरणा की फलश्रुति है। मैं चाहता हूँ कि इस कार्यक्रम के माध्यम से मैं विराट रूप में सेवा करूँ।

अहिंसा और सत्य धर्म के दो मौलिक तत्त्व हैं। मैं मानता हूँ कि ये दोनों तत्त्व इतने व्यापक हैं कि कोई भी मानवीय हित की बात इनकी परिधि से बाहर नहीं रह सकती। मेरा लक्ष्य है कि इन आदर्शों के माध्यम से विश्व-बंधुत्व और विश्व-मैत्री का संदेश सारे संसार में पहुंचाऊँ।

मुझे यह कहते हुए सात्त्विक गौरव की अनुभूति हो रही है कि हमें एक अनुपम धर्मसंघ मिला है। बंधुत्व, एकत्व और संपत् के रूप में जो धरोहर मिली है, उसे सुरक्षित रखने की दृष्टि से मुझे तथा संघ के प्रत्येक सदस्य को जागरूक रहना है। संघ ही संपत्ति है इस पाठ को हमें तो पढ़ना ही है, बल्कि आत्मसात करना है और संसार को भी उसका प्रशिक्षण देना है। जन्म-दिवस पर मेरी यही हार्दिक अभिलाषा है।

राजसमंद

२२ अक्टूबर १९६०

७६. अंतर्मुखी सदा सुखी

यह एक त्रैकालिक तथ्य है कि संसार का हर प्राणी सुखेच्छु है, शांति की अभीप्सा से बंधा हुआ है। इस सुख-शांति की प्राप्ति के लिए मानव ने गहन गिरि-कंदराओं को अपना निवास-स्थान बनाया। उसने आकाश में उड़न-तस्तरी की तरह उड़ान भरी, जल में मछली की तरह तैरना सीखा। परंतु इसके बावजूद उसे सुख और शांति की प्राप्ति नहीं हुई। सुख और शांति की प्राप्ति क्यों नहीं हुई? इस 'क्यों' का उत्तर तो बहुत स्पष्ट है। जो चीज जहां नहीं है, वहां वह कैसे प्राप्त होगी? वस्तुतः सुख और शांति का सीधा संबंध धर्म से है और धर्म का संबंध धर्मी (आत्मा) से है। पहाड़ों, गुफाओं, जलाशयों..... में वह वास नहीं करता। आकाश और पाताल में भी उसका वास नहीं है। होगा भी कैसे? वह धर्मी को छोड़कर कहीं जा भी तो नहीं सकता। जिस प्रकार प्रकाश दीपक या चिमनी से पृथक नहीं हो सकता, उष्णता अग्नि से भिन्न नहीं हो सकती, ठीक उसी प्रकार धर्म भी व्यक्ति की आत्मा से अलग नहीं हो सकता। इसका फलित यह हुआ कि सुख और शांति का वास आत्मा में है। वहां खोजने से इनकी प्राप्ति अवश्य होगी। पर कठिनाई यह है कि आदमी आत्मा में नहीं झांकता। वह तो बहिर्मुखी बनकर ही इन्हें उपलब्ध करना चाहता है। ऐसी स्थिति में इनकी प्राप्ति तो बहुत दूर, साक्षात्कार भी असंभव है। वस्तुतः बहिर्मुखी की स्थिति बहुत दुःखदायी है। बहिर्मुखी व्यक्ति की तुलना ऊंट से की गई है।

भारे यथा रोहति भूरिरावा, निरप्यमाणे रवणास्तथासन् ।

सदैव सर्वाङ्गबहिर्मुखानां हितहितज्ञानपराङ्मुखत्म् ॥

ऊंट पर जब बोझ रखा जाता है, तब वह आवाज करता है, जो कि अस्वाभाविक नहीं है। पर जब बोझ उतारा जाता है, तब भी वह आवाज करता है। यह विचित्रता है। इसी प्रकार जो बहिर्मुखी हितहित के ज्ञान से सदैव परांगमुख होता है।

लोग ऊंट की इस प्रकृति या अज्ञान पर हंसते हैं। हंस सकते हैं, पर वे स्वयं को देखते हैं या नहीं ? आज मानव कितना बहिर्मुखी बन गया है, क्या इस बिंदु पर भी वे चिंतन करते हैं ?

अंतर्मुखी की पहचान

यह एक सनातन सत्य है कि अंतर्मुखी बने बिना किसी भी व्यक्ति को आज तक सुख और शांति की प्राप्ति हुई नहीं, भविष्य में कभी हो नहीं सकती। इसलिए जिस-किसी व्यक्ति के मन में सुख-शांति की प्राप्ति की आंतरिक ललक है, उसे बहिर्मुखता को छोड़कर अंतर्मुखता का विकास करना होगा। पूछा जा सकता है कि अंतर्मुखी व्यक्ति का लक्षण क्या है, उसकी पहचान क्या है, पहचान बहुत सीधी-सी है। अंतर्मुखी व्यक्ति को छिछलापन छू तक नहीं पाता। सहज गांभीर्य उसके व्यक्तित्व में झलकता है। गंभीर व्यक्ति को बाह्य वातावरण सहजतया प्रभावित नहीं कर सकता। वह अपने-आपमें लीन रहता है। न वह दूसरों के कार्यों में अनावश्यक हस्तक्षेप करता है और न दूसरों के हस्तक्षेप से स्वयं बाधित ही होता है।

मियांजी के पास एक व्यक्ति आया और बोलाह 'मियांजी! डाकखाने में रुपये (Money Order) आए हैं।' मियांजी अपनी मस्ती में थे। उन्होंने निरपेक्ष भाव से कहाह 'आए होंगे। मुझे क्या मतलब?' बात आगे बढ़ते हुए वह व्यक्ति बोलाह 'सुना है, आपके नाम से आए हैं।' उसी भावधारा में मियांजी बोलेह 'फिर तुझे क्या मतलब?' अब उस व्यक्ति के पास बात आगे बढ़ाने के लिए कुछ भी शेष नहीं था।

अंतर्मुखता का यह एक उदाहरण है। ऐसे और भी अनेक उदाहरण हो सकते हैं। मूलतः अंतर्मुखता की स्थिति में व्यक्ति का मानस इतना सध जाता है कि अनुकूल-प्रतिकूल स्थितियां उसकी समाधि में तनिक भी विक्षेप पैदा नहीं कर सकतीं। वह समाधि या शांति ही क्या, जो किसी बाह्य निमित्त से विक्षुब्ध हो जाए, खंडित हो जाए, क्षण-क्षण में बने और विनष्ट हो जाए।

सुगंध तो अंदर से आ रही थी

अंतर्मुखी व्यक्तित्व सुख और शांति के स्रोत को अपने अंदर ही खोज निकालता है, जबकि बहिर्मुखी व्यक्ति उसे उसी प्रकार बाहर खोजता रहता है, जिस प्रकार अज्ञानी मृग किस्तूरी को घास में ढूंढता फिरता है। पर मृग को जिस प्रकार घास में किस्तूरी नहीं मिलती, ठीक

उसी प्रकार बहिर्मुखी को भी सुख-शांति का सौरभ बाहर कैसे मिलेगा? अभी की घटना है। इला बहिन जवेरी (मुंबई) ने मुझसे कहा हूँ 'आचार्यश्री! मैं तपस्विनी साध्वी श्री पन्नाजी के स्वर्गवास की बात सुनकर वहाँ शीघ्रता से जाने की तैयारी कर रही थी कि तभी सहसा मेरा कमरा असामान्य रूप सुगंधित हो उठा। ऐसा अनुभव हुआ मानो केशर, कस्तूरी, चंदन, अगर तगर, से किसी ने सुवासित किया हो। मैंने बाबूभाई आदि से कहा तो उन्हें सहसा विश्वास नहीं हुआ। किंतु जब उन्होंने स्वयं उपस्थित होकर प्रत्यक्ष देखा तो उन्हें भी बड़ा आश्चर्य हुआ। अब उनके समक्ष इसे स्वीकार करने के सिवाय और कोई विकल्प नहीं था। संयोग से उसी समय स्थानीय वकील श्री रोशनलालजी बड़ोला वहाँ आ गए। वे ऐसी बातों में किंचित भी विश्वास नहीं करते। कमरे में दिव्य सुगंध देखकर उन्होंने इधर-उधर, ऊपर-नीचे सर्वत्र अन्वेषण किया। किंतु कमरे में कोई सुगंधित द्रव्य नहीं मिला। इससे उन्हें आश्चर्य हुआ। फिर यह तो उनके लिए और भी अधिक आश्चर्य की बात थी कि सुगंध केवल कमरे के भीतर थी, बाहर सुगंध कहीं भी नहीं थी। इस स्थिति का साक्षात्कार कर बड़ोलाजी अत्यंत प्रभावित हुए। उन्हें भी इस घटना को एक यथार्थ के रूप स्वीकार करना पड़ा।' फिर ज्ञात हुआ कि इला बहिन ने तपस्विनी साध्वी पन्नाजी को चौमासी तप के पारणे के दिन वहाँ पधारने का निवेदन किया था और तपस्विनी पन्नाजी ने वहाँ आने की मौन अनिश्चित स्वीकृति भी प्रदान की थी। इधर रात्रि में उसका स्वर्गवास हो गया। फिर वहाँ कौन आए? संभव है वह अदृश्य रूप में वहाँ आई हो और उस कारण वह कमरा सुगंध से सहज रूप में महक उठा हो। कमरा लगभग पंद्रह मिनट तक सुगंध से महकता रहा। लोग सुगंध को बाहर ढूँढते रहे पर वह नहीं मिली। मिले भी तो कहां से? सुगंध तो अंदर से आ रही थी। ठीक इसी प्रकार आत्म-शांति एवं सुख रूपी सुगंध तो अपने अंदर है। ऐसी स्थिति में बहिर्मुखी बनकर दृश्यमान क्षणभंगुर द्रव्यों में खोजने से वह कभी मिल नहीं सकती। अंतर्मुखी बनकर ही उसे प्राप्त किया जा सकता है।

इस सारे विस्तार का संक्षेप इतना-सा ही है कि अंतर्मुखी सदा सुखी, बहिर्मुखी सदा दुःखी।

कांकरोली

४ नवंबर १९६०

७७. श्रावक की पहचान

श्रावक की दो महत्त्वपूर्ण पहचान हैं—हैह्यपाप-भीरुता तथा अनाग्रह-बुद्धि। गृहस्थ होने के कारण भले आप अर्थदंड से नहीं बच सकते, पर कम-से-कम अनर्थदंड से तो बचें, बल्कि अवश्य बचें, सलक्ष्य बचें। श्रावक श्रद्धाशील होता है। श्रद्धा बहुत ऊंचा तत्त्व है। पर श्रद्धा के साथ सद्विवेक का होना भी अत्यंत अपेक्षित है। जहां इसका अभाव होता है, वहां व्यक्ति दुराग्रही बन जाता है। रूढ़िवाद और क्या हैह्य? यही तो रूढ़िवाद है। रूढ़िवाद का प्रतिपक्षी है प्रगतिवाद। एक मार्ग पर चलते-चलते यदि कोई दूसरा सरल, स्पष्ट, लक्ष्यगामी एवं सुगम मार्ग उपलब्ध हो जाए तो उसे सहर्ष स्वीकार कर लेना प्रगतिवाद है। जहां प्रगतिवाद प्रभावी होता है, वहां प्राचीनता और नवीनता का ऐकांतिक आग्रह नहीं हो सकता। मेरी दृष्टि में अनावश्यक प्राचीनता को समेटते हुए आवश्यक नवीनता को पचाते जाना विकास का मार्ग है, श्रेय पथ है। जैन-दर्शन अच्छाई को ग्रहण करने और बुराई का त्याग करने का स्पष्ट निरूपण करता है। यदि तटस्थ दृष्टि से चिंतन किया जाए तो यह बिलकुल स्पष्ट हो जाएगा कि किसी भी तत्त्व का सही-सही मूल्यांकन मात्र नवीनता या फिर मात्र प्राचीनता के आधार पर नहीं हो सकता। अच्छे होने की एकमात्र कसौटी गुणात्मकता है। इसी प्रकार किसी तत्त्व के बुरे होने की एकमात्र कसौटी गुणात्मकता का अभाव है। अतः बुद्धिमान और विवेकसंपन्न श्रावक प्राचीन और नवीन का किसी प्रकार का दुराग्रह नहीं करता।

७८. हिंदी भाषा का महत्त्व

भाषा सामाजिक जीवन का एक महत्त्वपूर्ण घटक है। हम जिस भारतवर्ष में रह रहे हैं, उसकी आबादी लगभग छत्तीस करोड़ मानी जाती है। इतने लोगों तक अपने विचार पहुंचाने के लिए किसी-न-किसी एक भाषा को माध्यम बनाना आवश्यक है। भाषा-एकता के समर्थकों का उसके पीछे क्या दृष्टिकोण रहता होगा, यह तो वे ही जानें, परंतु मेरा दृष्टिकोण तो बहुत स्पष्ट है। इसके पीछे मेरा एकमात्र दृष्टिकोण है नैतिक संदेश पहुंचाना। मेरा बहुत साफ चिंतन है कि नैतिक संदेश को घर-घर और जन-जन तक पहुंचाना है तो एक भाषा के माध्यम के बिना यह संभव नहीं हो सकेगा। वस्तुतः भाषा हमारे विचारों में एकसूत्रता का कार्य करती है। उसके अभाव में राष्ट्र के एकत्व को तो खतरा है, उससे भी बढ़कर खतरा हो सकता है विचारों की एकता को। अनेकता भेद की जनक है। भेद-विभेद से क्रमशः विद्वेष भड़कता है। अतः किसी भी चिंतनशील व्यक्ति को यह स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि किसी एक भाषा के माध्यम से राष्ट्र के नागरिकों को नैतिकता का संदेश पहुंचाना आवश्यक है, जिससे कि राष्ट्र में नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा हो सके।

भाषावाद अनुचित

मैं इस बात को भी अच्छी तरह से जानता हूँ, कोई भी भाषा किसी का कल्याण नहीं करेगी। मेरी दृष्टि में भाषावाद जातिवाद से कम बुरा नहीं है। भगवान महावीर ने कहा है **चिंता तायए भाषा, कओ विज्जाणु सासणो**। यानी विचित्र भाषाएं हमारा त्राण नहीं कर सकेंगी। यदि लोग महावीर की इस वाणी पर ध्यान देते तो भयंकर भाषा-विवाद उत्पन्न होने की स्थिति ही नहीं बनती। मुझे यह बताने की कोई अपेक्षा नहीं है कि आज भाषावाद को लेकर देश में भीषण गृहयुद्ध की स्थिति बनी हुई है। यह क्यों? यह इसलिए कि राष्ट्र में अभी तक राष्ट्रीय चरित्र का विकास

नहीं हुआ है। हालांकि व्यक्तिगत स्तर पर आज भी अनेक महान व्यक्ति चरित्र के उच्च शिखर को छू रहे हैं। पर राष्ट्रीय चरित्र का अपना महत्त्व है। वह यदि निर्मित हो जाता तो क्या बंगाल, पंजाब तथा दक्षिण भारत में हो रहे क्षुद्र स्वार्थों के कांड दृष्टिगत होते? बेशक यह किसी भी अहिंसाप्रधान देश के लिए लज्जा की बात हो सकती है। राष्ट्रीय चरित्र के इस दुर्भिक्ष को मिटाने के लिए हमें भाषा का सहारा लेना ही होगा। चरित्र अपने-आपमें मौन है। और ज्ञान भी नहीं बोलता। वह पंगु भी है। अतः चलने में अक्षम भी है। ऐसी स्थिति में वह भाषा के कंधों के सहारे अपनी अभीष्ट मंजिल को प्राप्त कर सकता है। राष्ट्र में अध्यात्म के विचार-संचरण के लिए भी आज हिंदी जितना सुगम दूसरा कोई माध्यम ध्यान में नहीं आता, क्योंकि उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्यप्रदेश, राजस्थान आदि में भी तो प्रमुखतः हिंदी का प्रयोग होता ही है, अन्य अनेक प्रांतों में भी उसका व्यापक प्रसार है। इस संदर्भ में एक बात हिंदी-भाषी लोगों और उसके समर्थकों से भी कहना चाहता हूं कि उन्हें दूसरी-दूसरी भाषाओं की विशेषताओं और अच्छाइयों को ग्रहण करने में किसी भी प्रकार संकोच नहीं होना चाहिए। इस स्थिति में ही हिंदी अपने गौरव को उंचा रख सकेगी, अपनी प्रतिष्ठा को अक्षुण्ण रख सकेगी।

तेरापंथ में हिंदी का विकास

तेरापंथ धर्मसंघ में पहले संस्कृत पर विशेष बल दिया जाता था। पर इन वर्षों में मुझे ऐसा अनुभव हुआ कि निकट भविष्य में हमें हिंदी की अत्यंत अपेक्षा होगी, क्योंकि साधु-साध्वियों को जनता से सीधा संपर्क करना होता है। ऐसी स्थिति में यदि वे हिंदी जैसी व्यापक भाषा में प्रगति नहीं करेंगे तो हो सकता है कि जन-जन के जीवन-निर्माण के महत्त्वपूर्ण कार्य में उन्हें पग-पग पर कठिनाइयों का अनुभव करना पड़े। इसलिए संस्कृत के साथ-साथ हिंदी में भी अपनी गति को विकासशील बनाना है। भगवान महावीर ने प्राकृत भाषा में उपदेश दिया। इसके पीछे उनका दृष्टिकोण संभवतः यही था कि प्राकृत जनसाधारण की भाषा है। इस भाषा में ही जनसाधारण को अपनी बात आसानी से समझाया जा सकता है। महावीर के इस दृष्टिकोण को आधार मानकर हमने भी जन-भाषा हिंदी में विकास करने का चिंतन किया। उसके फलस्वरूप धर्मसंघ के अनेक साधु-साध्वियों ने उच्च स्तर की हिंदी में गद्य और पद्य दोनों

विधाओं में विविधरूप साहित्य का सर्जन किया और यह क्रम आगे-से-आगे चालू है। मैं मानता हूँ, इससे भारत की जनता के राष्ट्रीय चरित्र के विकास में पर्याप्त सहयोग मिला है। निकट भविष्य में यह सहयोग और भी अधिक मिलेगा, ऐसी संभावना है।

राजसमंद

१४ सितम्बर १९६०

परिशिष्ट

विषयानुक्रम

अ	त
अंतर्मुखता २००-२०२	तेरापंथ ५९, ६९, १२४, १२५, १२७, १३९-१४१, १४४, १४५, १४७- १६७, १६९-१७१, १८६, २०५
अणुव्रत-आंदोलन १, ६, ७, १०-३३, ४३, ६४, ७६, ८३, ८४, ८९, ९०, ९२, ९४, ९५, १२६, १२७, १५४, १५५	द
अपरिग्रह ७९, ८०	दर्शन (Philosophy) १७२-१८६
अस्पृश्यता १३०	दीपावली (महावीर-निर्वाण-दिवस) १३६, १३७
अहिंसा-हिंसा १७, ३८, ३९, ५६, ७९, ८१-९३, १२४, १३७, १४२, १४३	ध
आ	धर्म २, ३, १३-१७, ३०, ६६-६९, ७५, ७७, ७८, ८६, ८९, ९७, १०७, १३३, १३४, १३७, १४२-१४४, १७७, १८४, १८८
आचार्य भिक्षु : व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व ६९, १३८-१५०	ह्नऔर दर्शन १७३, १७७-१८४
आत्मा ६१, १७९, १८२	ह्नऔर धन ९५, १३४
ह्न(आत्म)ह्नवाद १७३, १७४, १८२	ह्नऔर धर्मस्थान ६८, ६९
आनंद का स्रोत ६३-६५, देखेंह्न	ह्नऔर राजनीति ७१, ७२
सुख और शांति का मार्ग	ह्नऔर संप्रदाय ७१, १८०
क	धार्मिकता ७५, ७६, १३४
कर्तव्यनिष्ठा ४	न
ज	नारी ३५, ३९, १०८-११७, १२७
जगत-व्यवस्था और धर्मास्तिकाय १८९, १९०	प
जातिवाद ३९, १२९, १३०	पर्दा-प्रथा १०८, ११३, ११४, ११६, ११७, १४०
जीवन में मर्यादा का महत्त्व १२०	पुरुषार्थ १८७, १८८
जैन-एकता के पांच सूत्र १३५	

ब	
बड़प्पन का मापदंड ४२,४३	
भ	
भगवान महावीर : जीवन और दर्शन १३१-१३७	
भारतीय दर्शन १७२-१८४	
भाषावाद २०४,२०५	
भेद-विज्ञान ६१,६२	
य	
युगधर्म १,१३-१७, देखेंहअणुव्रत-आंदोलन	
र	
राष्ट्र का नव-निर्माण ३४,३५	
ल	
लोकोत्तर धर्म १४२,१४३	
लौकिक धर्म १४२,१४३	
व	
वर्ग-संघर्ष २२,२३	
विकास का मार्ग १५३	
विद्यार्थियों का जीवन-निर्माण ९५-१०४	
विनय १०४,१०८	
व्यक्ति-सुधार का महत्त्व १-७	
व्रत ३२,८३,८४	
श	
शिक्षा १०४-१०६	
	स
	संकल्प-शक्ति १२४
	संगठन के सूत्र १३९
	संप्रदाय, सांप्रदायिकता १६,१७, ७१,१३५
	संयम ४४,५६,५७,६३,६४,९९, १००
	सत्संग ५५-५७
	सनाथता-अनाथता १९३-१९७
	समाज-सुधार की प्रक्रिया २-५, ७२,७३
	सम्बत्सरी महापर्व १९१,१९२
	साधना ५६,५९,१२०-१२३
	सामाजिक कुप्रथाएं और नया मोड़ १०७-११९,१२६,१२७,१६८
	सुधार की प्रक्रिया १-९,७२,७३
	सुख और शांति का मार्ग ४४-६५, ८५,८७,१२१
	स्याद्वाद ३८
	स्वस्थ समाज का प्रारूप १०
	स्वस्थसमाज-निर्माण की प्रक्रिया ७२
	ह
	हिंदी भाषा २०४-२०६

नामानुक्रम

● व्यक्ति

अ
अनाथी, मुनि १९३-९७
अष्टावक्र, ऋषि ५६
आ
आइजन होवर ८५
इ
इषुकार, राजा १७५, १७६
ई
ईसा, महाप्रभु ७५
उ
उपसुंद, असुर २८
ऋ
ऋषभ, तीर्थकर १७३
क
कमलावती, महारानी १७५, १७६
कालिदास, महाकवि १६
कालूगणी १५१, १५२, १६२
कृष्ण, वासुदेव १८८
कोठारी, हीरालाल (भूतपूर्व मंत्री, राजस्थान सरकार) १२५
ख
खुश्चेव ८५
ग
गजसुकुमाल, मुनि ६२
गांधी, महात्मा ३६, ७३, १००, १२४

गुसाईं (नाथद्वारा के अधिपति) ६९
गौतम, गणधर ४४
च
चंदनबाला, महासती ११२
ज
जयाचार्य १४९-५१, १६२-१६४, १७०
जवेरी, इलाबहन, श्राविका १७४
त
तुलसी, आचार्य १३०, २०२
तुलसी, गोस्वामी ५५, ८१
द
दिनकर, रामधारीसिंह १
ध
धर्मकीर्ति, आचार्य १६
न
नथमल देखेंहमहाप्रज्ञ, आचार्य
नानक, गुरु ७८
नारद, ऋषि १७४
प
पन्नां, साध्वी २०२
प्रह्लाद, भक्त ७५
ब
बड़ोला, रोशनलाल (वकील) १७४
बाबूभाई, श्रावक १७४
बुद्ध, गौतम १६, १११, १३८

भ	श्रेणिक, सम्राट १९४,९७
भर्तृहरि, राजर्षि ५९	स
भारमल, आचार्य १३९	सनत्कुमार, ऋषि १७४
भिक्षु स्वामी, आचार्य १९,५९,६९, ७०,११३,१२४,१२८,१३८- १५१,१५३,१५५,१५७-१५९, १६१-१६४,१६९,१७५,१८६	सीता, महासती ३५, ११२ सीतेंद्र, देव ५०,५१ सुंद, असुर २८ सुखलाल, घोर तपस्वी, मुनि १९
भीखण देखेंहभिक्षु स्वामी, आचार्य भृगु, राजपुरोहित १७५	सूर्पणखा ७५
म	ह
मघराज, आचार्य १५०,१५१	हिरण्यकश्यप ७५
महाप्रज्ञ, आचार्य १५१	हुकूमसिंह, ठाकुर १५२
महावीर, भगवान १४,१५,१७,३८, ५५,६४,९२,१०३,१०५,१११,१२०, १२७,१३०,१३७,१४३,१५३,१५७, १६१,१७३,१७९,१८०,१८७,१९३, २०४,२०५	हेमचंद्र, आचार्य १५१ हेमराज, मुनि १३९
मीरां ७५	● स्थान
मुहम्मद ७५	अ
र	अमेरिका ८५ असम १४७
राजीमती, साध्वी ११२	उ
राम, मर्यादापुरुषोत्तम ३५,१२४	उत्तर प्रदेश १८,५७,२०५ उदयपर १८
रावण ५०,७५	क
रुघनाथ, आचार्य १३८,१३९	कंटालिया १४२,१४५ कलकत्ताहृदेखें कोलकाता कानपुर ४६ केरल १४७ केलवा १२५,१४६,१५८,१६९, १७१
ल	कोठारिया ६८,६९ कोलकाता १८,४६,१२५,१२७
लक्ष्मण ५०,५१	ग
व	गुजरात १०८ गोगुंदा ७३
वाल्मीकि, आदिकवि ५२, ५३	
वृहस्पति, आचार्य १७४	
श	
शकडालपुत्र, श्रावक १८७,१८८	
शिव (महेश) १६	

	च		ल
चूरू १९		लंका १२४	
	झ		स
झालवाड़ २०, २१		सरदारशहर १९	
	द	सायरा १२५	
दक्षिण भारत २०५		सिरियारी १४२	
	न		ह
नाथद्वारा ६९		हरियाणा ११३	
	प	● ग्रंथ	
पंजाब ११३, २०५		आ	
पश्चिम बंगालहृदेखें बंगाल		आचारांग १७३	
	ब	उ	
बंगाल १५, १८, ५७, २०५		उत्तराध्ययन ६३	
बंबई देखेंहमुंबई		ज	
बगड़ी ६९, ११८		जैन रामायण(रामजशोरसायन) ५०	
बिहार १८, ५७, २०५		द	
बीदासर १२५, १५२		दशवैकालिक १२२	
	भ	प	
भारत ४, १८, ३०, ३४, ३६, ३७, ३९, ४१, ८८, १०३, १२४, १३६, १७३, १७४, १८०, १८१, २०४, २०६		प्रश्नव्याकरण ९१, ९२	
	म	व	
मगध १९५		वृहदारण्यक १७४	
मध्य प्रदेश २०५		● विविध	
माकड़देव २०		अ	
मारवाड़ ११३, १४७, १५१		अंधेरी ओरी १४६, १५८	
मुंबई १६२, २०२		क	
मेवाड़ १२५-१२७, १४७		कांग्रेस (भारत का एक प्रमुख राजनैतिक दल) ३६	
	र	ज	
राजगृह १९४		जी. टी. रोड १३०	
राजनगर १२५, १६९, १७१		जैतसिंह की छत्री १३९	
राजस्थान १८, १९, १०८, १५१, १५२, २०५		जैन श्वेतांबर तेरापंथी महासभा १९, १७०	
रूस ८५		न	
नामानुकम		नालंदा पुरातत्त्व संग्रहालय १६	

पद्यानुक्रम

पद्य	पृ. सं.
(संस्कृत)	
आत्मनि सत्त्वरे पृष्टे.....	१७४
जिते च लभ्यते लक्ष्मीः.....	१५
पिता रक्षित कौमार्ये.....	११२
भारे यथा रोहित भूरिरावा.....	२००
मही रम्या शय्या विपुलमुपधानं भुजलता.....	५९
यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्.....	१७४
विमति सम्मति वाऽपि.....	१७५
वेदाः प्रामाण्यं कस्यचिद् कर्तृवादः.....	१६
सुकराणि असाधूनि.....	१७३
(प्राकृत)	
एगे जिया जिया पंच.....	४४
कोहं माणं च मायं च.....	१२२
जो सहस्सं सहस्साणं.....	६३
वसे गुरुकुले निच्चं.....	१०३
विसं तु पीयं जह कालकूडं.....	१८०
सव्वं विलवियं गीयं.....	१९३
(हिंदी)	
क्षमा शोभती उस भुजंग को.....	१
तात! स्वर्ग अपवर्ग सुख.....	५५
‘तुलसी’ दया न पार की.....	८१
(राजस्थानी)	
कहो साधु किसका सगा.....	१६३
नंदनवन भिक्षु-गण में बसोरी.....	१६३
नारी लाज करे घणी.....	११३, १४०

मौने तो किवाड्या में दोष न भ्यासै.....	१२८
सगला साधु-साध्वी.....	१६३
(बंगला)	
जलेर मध्ये कूपेर.....	१५
जलेर मध्ये गंगाजल.....	१५

कथाओं/घटनाओं/दृष्टांतों की सांकेतिका

तालाब में एक लोटा दूध	१
स्वार्थ-बुद्धि	१५
सीता का आदर्श	३५
सीतेंद्र और लक्ष्मण	५०
वाल्मीकि	५२
राजभवन सराय ही तो है	५८
गजसुकुमाल	६३
चातुर्मास में विहार (आचार्य भिक्षु)	६९
काम की वस्तु रख ली (महात्मा गांधी)	१००
महिला का दर्द	१०९
चरण-स्पर्श कर सकता हूँ?	१३०
आगो थांरो नै पीछो म्हांरो (आचार्य भिक्षु)	१३९
बहू! पीपल घर ले आ	१७५
महारानी कमलावती	१७५
मुझे सब मालूम है.....	१८३
शकडालपुत्र	१८७
अनाथी मुनि	१९३
मियांजी! आम आए हैं	२०१

पारिभाषिक कोश

अधर्मास्तिकाय त्रैकालिक सत्तावाला असंख्यप्रदेशी वह द्रव्य, जो जीव और पुद्गल की स्थिति में उदासीन भाव से अनन्य सहयोगी है, अधर्मास्तिकाय है।

अधर्मास्तिकाय एक अखंड, अमूर्त, निर्जीव और संपूर्ण लोक में व्याप्त द्रव्य है।

अनशन अन्न, पानी, खाद्य (मेवा आदि) और स्वाद्य (लवंग आदि) हइन चारों प्रकार के आहार को त्यागना अनशन है। वह दो प्रकार का होता है इत्वरिक और यावत्कथित। उपवास से लेकर छह मास तक का अनशन इत्वरिक है। आमरण अनशन को यावत्कथित कहा जाता है। अनशन के तीन भेद भी हैं भक्तप्रत्याख्यान, इंगिनीमरण और प्रायोपगमन। ये उत्तरोत्तर कठिन हैं।

साधु और श्रावक जीवन के अंतकाल में अनशनपूर्वक देह त्याग करके समाधिमरण को प्राप्त होते हैं। इसे 'संधारा' की संज्ञा ही गई है। यह आत्म-हत्या नहीं, अपितु आत्म-साधना का उत्कृष्ट उदाहरण है।

अभयदान छह ही काय के जीवों की हिंसा से उपरत होना अभयदान है। अभयदान धर्मादान का एक भेद है।

अलोक जहां आकाश के अतिरिक्त और कोई द्रव्य नहीं है, उस आकाश को अलोक कहते हैं। अलोक अनंतप्रदेशात्मक है। (देखें हलोक, आकाशास्तिकाय)

अवसर्पिणी हासकालकालचक्र का वह अर्धांश, जिसमें क्रमशः सुख घटता है और दुःख वृद्धिगत होता है। इसका कालमान दस कोटाकोटि अब्दा सागरोपम का माना गया है। इसके छह विभाग (अर) होते हैं १. एकांत सुखमय २. सुखमय ३. सुख-दुःखमय ४. दुःखसुखमय ५. दुःखमय ६. एकांत दुःखमय। देखें हउत्सर्पिणी।

आकाशास्तिकाय त्रैकालिक सत्तावाला अनंतप्रदेशी द्रव्य, जो जीव-अजीव

सभी को अवगाहहआश्रय देता है, आकाशास्तिकाय है।

आकाशास्तिकाय एक अखंड, अमूर्त, निर्जीव तथा संपूर्ण लोक-अलोक में व्याप्त द्रव्य है

लोक और अलोक आकाश के ही दो भेद हैं। जहां आकाश के अतिरिक्त धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आदि शेष पांच द्रव्य भी विद्यमान हैं, वह लोक है। इसके प्रदेश असंख्येय हैं। देखेंहलोक, प्रदेश।

जहां आकाश के अतिरिक्त दूसरे द्रव्य नहीं हैं, वह आलोक है। अलोक अनंतप्रदेशात्मक है।

ईर्या समितिहचारित्र (संयम) के अनुकूल होने वाली प्रवृत्ति को समिति कहते हैं। संयमपूर्वक/जागरूकतापूर्वक चलने की प्रवृत्ति ईर्या समिति है।

उत्सर्पिणीहविकासकालहकालचक्र का वह अर्धांश, जिसमें क्रमशः दुःख घटता जाता है, सुख वृद्धिगत होता जाता है। इसका कालमान दस कोटाकोटि अब्दा सागरोपम का होता है। इसके छह विभाग (अर) होते हैंह१. एकांत दुःखमय २. दुःखमय ३. दुःखसुखमय ४. सुखदुःखमय ५. सुखमय ६. एकांत सुखमय। देखेंहअवसर्पिणी।

कालहजो जीव-अजीव सब पर बरतता है, सबके परिवर्तन का हेतु है, वह काल है।

काल की सबसे छोटी इकाई 'समय' और उसका सबसे बड़ा विभाग 'पुद्गलपरावर्तन' है। 'समय' और 'पुद्गलपरावर्तन' के बीच आवलिका, मिनट, मुहूर्त, दिन, पक्ष, मास, वर्ष..... अवसर्पिणी, उत्सर्पिणी आदि अनेक विभाग हैं।

चूंकि काल जीव और अजीव का पर्याय होता है, इसलिए इसे एक औपचारिक द्रव्य माना गया है, वास्तविक द्रव्य नहीं।

काल क्षणवर्ती यानी एक समयवर्ती होता है, इसके अतीत और भविष्य का संकलन नहीं होता, अतः यह अस्तिकाय नहीं है। अस्तिकाय त्रैकालिक सत्तावाले पुद्गल-समूह को कहते हैं।

केवलज्ञानीहआत्मा द्वारा जगत के समस्त मूर्त एवं अमूर्त द्रव्यों तथा उनके त्रैकालिक सभी पर्यायों का प्रत्यक्ष बोध केवलज्ञान है। इसमें इंद्रियों और मन की कोई अपेक्षा नहीं रहती। आत्मा पर आए ज्ञानावरण-कर्म के क्षय से केवलज्ञान की प्राप्ति होती है। यह तेरहवें व चवदहवें गुणस्थानों में तथा सिद्धों में होता है। देखेंहगुणस्थान। केवलज्ञान को

प्राप्त व्यक्ति केवलज्ञानी कहलाता है।

क्षयोपशमहज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतरायहइन चार घात्य कर्मों के हलकेपन को क्षयोपशम कहते हैं। इसमें इन चार कर्मों के विपाककोदय का अभाव होता है।

क्षयोपशम में प्रदेशोदय होता है, विपाकोदय का अभाव होता है या मंद विपाकोदय होता है। जो कर्म उदयावलिका में प्रविष्ट हो चुके होते हैं, उनका क्षय होता है और जो उदय में नहीं आए हैं, उनका विपाकोदय नहीं होता, उपशम होता है। चूंकि यह क्षय उपशम के द्वारा उपलक्षित है, इसलिए क्षयोपशम कहलाता है।

गुणस्थानहकर्म-विशुद्धि की तरतमता के अनुरूप प्राणी के आध्यात्मिक विकास की विभिन्न भूमिकाएं/स्तर गुणस्थान हैं। इन्हें जीव-स्थान भी कहते हैं। गुणस्थान चौदह हैं १. मिथ्यादृष्टि २. सास्वादनसम्यग्दृष्टि ३. मिश्रदृष्टि ४. अविरतसम्यग्दृष्टि ५. देशविरत ६. प्रमत्तसंयत ७. अप्रमत्तसंयत ८. निवृत्तिबादर ९. अनिवृत्तिबादर १०. सूक्ष्मसंपराय ११. उपशांतमोह १२. क्षीणमोह १३. सयोगीकेवली १४. अयोगीकेवली।

चक्षुदर्शनावरणीय कर्महयह दर्शनावरणीय कर्म की नौ प्रकृतियों में से एक प्रकृति है। इसके उदय से चक्षु के द्वारा साक्षात्कार होने में बाधा उपस्थित होती है। देखेंहदर्शनावरणीय कर्म।

जीवास्तिकायहजीवास्तिकाय शब्द जीव और अस्तिकाय इन दोनों के योग से बना है। जीव का अर्थ हैहप्राण धारण करनेवाला। एक जीव के प्रदेश असंख्य होते हैं। क्षेत्र की दृष्टि से जीव लोकप्रमाण है। काल की अपेक्षा से वह अनादि-अनंत है। भाव की अपेक्षा से वह अरूपी और गुण की अपेक्षा से चेतन गुणवाला है।

अस्तिकाय त्रैकालिक सत्तावाले प्रदेश-समूह को कहते हैं। जीव अनंत हैं।

तीर्थकरह

- धर्मचक्र-प्रवर्तक
- साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविकाहइन चार तीर्थों के संस्थापक।
- चार घात्य कर्मों का क्षय कर जो केवलज्ञान, केवलदर्शन आदि गुणों को प्राप्त कर लेते हैं तथा आठ प्रातिहार्य आदि विशिष्ट उपलिब्धियों के धारक होते हैं, वे ही अर्हत, अरहंत,

जिन या तीर्थकर कहलाते हैं।

- नमस्कार महामंत्र का प्रथम पद उनके लिए प्रयुक्त है। जीवन की समाप्ति पर वे सिद्धावस्था को प्राप्त हो जाते हैं।
- प्रत्येक उत्पत्ति या अवसर्पिणी में भरतक्षेत्र तथा ऐरावतक्षेत्र में चौबीस तीर्थकर उत्पन्न होते हैं। यह चौबीसी कहलाती है।
- भरतक्षेत्र में वर्तमान चौबीसी के प्रथम तीर्थकर ऋषभ व अंतिम तीर्थकर महावीर थे।
देखेंहउत्सर्पिणी, अवसर्पिणी।

दर्शनावरणीय कर्मह आत्मा की दर्शन-चेतना को आवृत करनेवाला कर्म दर्शनावरणीय कर्म है। इसकी नौ प्रकृतियां हैंह१. चक्षुदर्शनावरण २. अचक्षुदर्शनावरण ३. अवधिदर्शनावरण ४. केवलदर्शनावरण ५. निद्रा ६. निद्रानिद्रा ७. प्रचला ८. प्रचलाप्रचला ९. स्त्यानद्धि। यह एकांत अशुभ कर्म है।

धर्म्यध्यानह वस्तु के धर्महस्वभाव को यथार्थ रूप में जानने अथवा सत्य की खोज के लिए होनेवाली चिंतन की एकाग्रता को धर्म्यध्यान कहा जाता है।

ध्येय की दृष्टि से उसके चार विकल्प हैंह१. आज्ञा विचय २. अपाय विचय ३. विपाक विचय ४. संस्थान विचय।

निर्जराह

- तपस्या के द्वारा कर्मफल का विच्छेद होने पर आत्मा की जो उज्ज्वलता होती है, उसे निर्जरा कहते हैं।
- कारण को कार्य मानकर तपस्या को भी निर्जरा कहा गया है। उसके अनशन, ऊनोदरी आदि बारह भेद हैं।
- सकाम और अकाम के रूप में वह दो प्रकार की भी होती है। जो मात्र आत्म-शुद्धि के लक्ष्य से शुद्ध साधनों के द्वारा की जाती है, वह सकाम निर्जरा है। जिसमें यह लक्ष्य नहीं होता है, वह अकाम निर्जरा है। ये दोनों प्रकार की निर्जराएं सम्यक्त्वी एवं मिथ्यात्वी दोनों के होती हैं। देखेंहसम्यक्त्वी, मिथ्यात्वी।

परमाणुह सूक्ष्मतम (अविभाज्य) पुद्गल। पौद्गलिक वस्तु का सूक्ष्मतम (अविभाज्य) भाग, जब तक वह वस्तु के संलग्न रहता है, प्रदेश कहलाता है तथा जब अलग हो जाता है, तब वही परमाणु कहलाने लगता है। परमाणु चाहे स्वतंत्र हो, चाहे स्कंध में हो, वह सदा अपना अस्तित्व बनाए रखता है। लोक में अनंतानंत परमाणु अस्तित्व

में हैं। उनकी संख्या सदा अचल रहती है। अर्थात् न एक भी नया परमाणु उत्पन्न होता है, न एक भी विद्यमान परमाणु नष्ट होता है। परमाणु के पर्याय बदलते हैं। देखेंहपुद्गल, लोक।

पुद्गलह जो द्रव्य स्पर्श, रस, गंध और वर्णयुक्त होता है, वह पुद्गल है। लोक के सभी मूर्त/दृश्य पदार्थ पुद्गल ही हैं। सामान्य भाषा में उसे भौतिक तत्त्व या जड़ पदार्थ कहा जाता है। वैज्ञानिक दृष्टि से भी सभी प्रकार की भौतिक ऊर्जा एवं भौतिक पदार्थों का समावेश पुद्गल में होता है।

पुद्गल परमाणु और स्कन्धहदोनों रूप में होते हैं।

पुद्गल शब्द की व्युत्पत्ति **पूरणगलनधर्मत्वात् पुद्गलः** की गई है। यानी जिसका गलन-मिलन का स्वभाव हो, वह पुद्गल है। पुद्गल को छोड़कर शेष द्रव्यों में इस गुण का अभाव होता है।

पुद्गल की अनेक वर्णाएँ हैं, जो जीव के द्वारा ग्रहण की जाती हैं। उनमें कर्मवर्णा के पुद्गल महत्त्वपूर्ण हैं।

पुद्गलास्तिकायह पुद्गलास्तिकाय पुद्गल और अस्तिकायहइन दो शब्दों के योग से बना है। देखेंहपुद्गल।

अस्तिकाय त्रैकालिक सत्तावाले प्रदेश-समूह को कहते हैं।

मिथ्यात्वी, मिथ्यादृष्टिह जो तत्त्व जिस रूप में है, उससे विपरीत रूप में समझाना मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व दर्शनमोहनीय की तीन प्रकृतियों (मिथ्यात्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय और सम्यक्त्वमोहनीय) एवं चारित्रमोहनीय की चार प्रकृतियों (अनंतानुबंधी क्रोध, मान माया और लोभ) के उदय से निष्पन्न होता है। दर्शनमोहनीय एवं चारित्रमोहनीय मोहनीय कर्म के ही दो भेद हैं।

जो प्राणी मिथ्यात्व से ग्रस्त होता है यानी जिसकी श्रद्धा/समझ असम्यक/विपरीत है, वह मिथ्यात्वी या मिथ्यादृष्टि है।

लोकह अनंत आकाश के षड्रव्यात्मक भाग को लोक कहते हैं। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल, पुद्गलास्तिकाय और जीवास्तिकायहये छह द्रव्य हैं।

लोक के तीन भाग हैंहउंचा लोक, नीचा लोक और तिरछा लोक। तिरछे, अलोक को मध्य लोक भी कहा जाता है। देखेंहधर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आदि।

संवरह आश्रव का निरोध करनेवाले आत्म-परिणामों को संवर कहते हैं। आश्रव क्रमों के आश्रवणहप्रदेश के हेतुभूत आत्म-परिणामों को कहा

जाता है।

आश्रव के निरोध से कर्मों के आगमन का संवरण होता है, इसलिए उसे संवर कहा जाता है।

संवर के पांच भेद हैं १. सम्यक्त्व २. विरति ३. अप्रमाद ४. अकषाय ५. अयोग।

विस्तार में उसके बीस भेद भी बताए गए हैं।

सम्यक्त्वी, सम्यग्दृष्टि तत्त्व के बारे में सम्यक/यथार्थ श्रद्धाह्वजो तत्त्व जैसा है, उसे उसी रूप में समझना सम्यक्त्व है।

सम्यक्त्व की प्राप्ति दर्शनमोहनीय कर्म की तीन प्रकृतियों (मिथ्यात्व-मोहनीय, मिश्र-मोहनीय एवं सम्यक्त्व-मोहनीय) तथा चारित्र-मोहनीय की चार प्रकृतियों (अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया और लोभ) के क्षय, क्षयोपशम या उपशम से होती है। दर्शन-मोहनीय एवं चारित्र-मोहनीय मोहकर्म के ही दो भेद हैं।

जो प्राणी सम्यक्त्व से संपन्न होता है, जिसकी तत्त्व के प्रति श्रद्धा सम्यक्/ यथार्थ है, वह सम्यक्त्वी या सम्यग्दृष्टि है।

यथार्थ तत्त्वश्रद्धा, सम्यक देव, गुरु व धर्म की आराधना, तीव्र कषायों से विरतिह्वये सारी बातें सम्यक्त्वी या सम्यग्दृष्टि के लिए अनिवार्य हैं।

शम, संवेग आदि पांच लक्षण, निःशंकित, निःकांक्षित आदि आठ आचार तथा शंका, कांक्षा आदि पांच दूषणों से मुक्तिह्वये सम्यक्त्वी या सम्यग्दृष्टि की पहिचान हैं।

सामायिकहश्रावक (हिंसा, असत्य आदि पापकारी प्रवृत्तियों का आंशिक त्याग करनेवाला सम्यग्दृष्टि जीव) के बारह व्रतों में नवां व्रत, जिसमें एक मुहूर्त (४८ मिनट) के लिए सावद्यहपापकारी प्रवृत्ति का त्याग कर विशेष धार्मिक अनुष्ठान के द्वारा समता की साधना की जाती है।

प्रेरक वचन

- परिस्थितियों के हाथों बिक जाना कायरता है। (१)
- समाज-सुधार का आधार व्यक्ति-सुधार है। (२)
- व्यक्ति-सुधार की बात को गौण करके समाज-सुधार और राष्ट्र-सुधार की कल्पना को स्वीकार नहीं किया जा सकता। (५)
- जब तक व्यक्ति स्वयं का सुधार नहीं कर लेता, तब तक वह दूसरे का सुधार नहीं कर सकता। (६)
- यदि समाज का हर व्यक्ति और वर्ग अपने जीवन को प्रामाणिक एवं स्वस्थ रखने के लिए संकल्पित हो जाए तो कोई कारण नहीं कि यह धरती स्वर्ग न बने। (७)
- जिस आवश्यकता से दूसरे का अधिकतर छीना जाता हो या उसमें बाधा पहुंचती हो, वह आवश्यकता वस्तुतः आवश्यकता नहीं रहती, अनधिकार चेष्टा बन जाती है। (१०)
- अहिंसा, सत्य और अपरिग्रह की भित्ति पर जीनेवाले व्यक्ति को अपने नैतिक पतन का कभी कोई संदेह नहीं होता। (१०)
- कथनी और करणी की एकरूपता प्रशस्त जीवन जीने का सशक्त आधार है। (११)
- जिस समाज के सदस्य कथनी-करनी की संवादिता के प्रति गंभीर नहीं होते, उस समाज की प्रतिष्ठा पर आंच आने लगती है। इसी प्रकार जिस राष्ट्र के नागरिक इस संवादिता के प्रति जागरूक नहीं होते, उस राष्ट्र की विश्वसनीयता अंतरराष्ट्रीय क्षेत्र में कम हो जाती है। (१२)
- संप्रदाय बुरे नहीं, बुरी है सांप्रदायिकता। (१६)
- उन धर्म-संप्रदायों को जीने का अधिकार नहीं है, जो अपने कर्तव्य की पूर्ति न कर केवल सांप्रदायिकता का विष उगलते हैं। (१७)
- स्वहित की प्रवृत्ति में ही परहित अंतर्निहित है। (२१)

- धर्म को अस्वीकार करने का अर्थ है जीवन को अस्वीकार करना। (२५)
- विशुद्ध जीवन की धुरी है दृष्टि। यदि दृष्टि शुद्ध होती है तो ज्ञान शुद्ध होता है, चरित्र शुद्ध होता है। इसके ठीक विपरीत यदि दृष्टि विकृत है तो ज्ञान भी विकृत हो जाता है, चरित्र भी विकृत बन जाता है। (२७)
- किसी के भी प्रति घृणा करनेवाला व्यक्ति क्या सभी के प्रति घृणा नहीं करता? घृणा का जो संस्कार बन जाता है, वह क्या सीमित रह पाता है? (२७)
- मैं नहीं समझता, आदमी आदमी से घृणा करे, इससे बढ़कर और क्या अमनुष्यता होगी। (२७)
- धर्म का पहला सोपान है व्यवहारिक सचाई अर्थात् प्रामाणिकता। (२९)
- वर्तमान जीवन शुद्ध नहीं होता तो अगला जन्म शुद्ध कैसे होगा? (३०)
- संकल्प की शक्ति अद्भुत होती है! (३१)
- प्रतिकूल वातावरण में भी नैतिकता और प्रामाणिकता का जीवन जीना व्यक्ति की दृढ़ता और आत्म-साहस का परिचायक है। (३२)
- किसी भी राष्ट्र की उन्नति के लिए नैतिक विकास सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटक है। (३४)
- इच्छा की अपरिमिता दुःख का मूलभूत कारण है और इच्छाओं का निरोध सुख है। इच्छाओं को रोककर हम तमाम दुःखों से त्राण पा सकते हैं। (३८)
- जो सुख क्षणभंगुर है, वह सुख नहीं है। जिसमें दुःख न हो, वही वास्तविक सुख है। (३८)
- आवश्यकता से अधिक संग्रह करना पाप है। (४०)
- आर्थिक संपन्नता से आदमी बड़ा बनता है, यह एक प्रकार की मिथ्या अवधारणा है। (४२)
- जिसका चरित्र ऊंचा है, जिसके विचारों में पवित्रता है, व्यवहार में नैतिकता है, वह बड़ा है, भले वह किसी भी कुल में क्यों न पैदा हुआ हो। (४२,४३)
- अशांति आज की ही नहीं, हर युग की सबसे बड़ी समस्या है।

इस समस्या को सुलझाने का सरल और कठिन एकमात्र उपाय है—आत्म-संयम। (४४)

- संयम हमारे जीवन की सबसे बड़ी आवश्यकता है, सबसे बड़ी धनराशि है। वह प्रत्येक व्यक्ति की अपनी निजी संपत्ति है। उस पर दूसरा कोई अधिकार नहीं कर सकता। उसमें ही हमारी शांति और सुख के बीज निहित हैं। (४४)
- बाहरी वस्तुएं, भोगोपभोग के साधन किसी की भी निजी संपत्ति नहीं हैं। उनका संग्रह करने के लिए लोग अशांति और युद्ध का बवंडर खड़ा करते हैं और स्वयं ही उसका दुष्परिणाम भोगते हैं। (४४)
- युद्ध तलवारों, बंदूकों, मशीनगनों और अणुबमों में नहीं है। वह मानव के दिल और दिमाग में है। मानव जब चाहते हैं, तब लड़ाई का भूत खड़ा कर लेते हैं। (४४)
- अशांति और शांति का उपादान मन ही है। (४५)
- सुख और शांति का मार्ग है—हत्याग। दूसरे शब्दों में संतोष। जिस-किसी व्यक्ति ने इस पथ पर पदन्यास किया है, उसे सुख और शांति की अभीप्सित मंजिल प्राप्त हुई है। (४७)
- व्यक्ति भले ध्यान, मौन आदि की कितनी भी साधना क्यों न कर ले, लंबी-लंबी तपस्याएं भी क्यों न कर ले, पर जब तक अपने कषाय पर विजय प्राप्त नहीं करता, वह परमात्म-पद को प्राप्त नहीं कर सकता। (४८)
- सबसे बड़ा दुःख विवशता है। (५०)
- जहां विवशता है, वहां कैद है। (५०)
- यह कैसी विचित्र बात है कि प्राणी पाप करते नहीं सकुचाता, लेकिन पाप का फल भोगना नहीं चाहता! (५०)
- व्यक्ति दूसरों को धोखा दे सकता है, पर अपने-आपको नहीं। अपने से छुपा उसका कोई पाप नहीं होता। (५१)
- धर्म आत्म-शुद्धि का एकमात्र साधन है। जीवन की पवित्रता इसी से सध सकती है। सुख और शांति का यह निर्विकल्प उपाय है। (५४)
- जिस प्रकार भोजन के अभाव में शरीर कृश और शिथिल हो जाता है, उसी प्रकार सत्संग के अभाव में व्यक्ति की धार्मिकता कृश और शिथिल हो जाती है। (५५)

- अहिंसा की साधना में बंधन-मुक्ति की सारी साधना समाहित हो जाती है। (५६)
- सुख और शांति का अनुभव करना है तो संयम को अपनाने के सिवाय दूसरा कोई रास्ता नहीं है, विकल्प नहीं है। (५७)
- संयम अध्यात्म या धर्म का सारभूत तत्त्व है, जीवन का सर्वोच्च मूल्य है। (६३)
- मात्र नारा लगाने से धर्म की जय-विजय नहीं होगी। उसके लिए तो जीवन को नैतिकता एवं सदाचार के सांचे में ढालना होगा, उच्च विचार और प्रामाणिक व्यवहार के पथ पर आगे बढ़ाना होगा। (६६)
- लोग धर्म को किसी स्थानविशेष से संबद्ध कर देते हैं। ऐसा करना मेरी दृष्टि में अनुचित है। धर्म तो शाश्वत स्वतंत्र तत्त्व है। वह मंदिर, मठ, मस्जिद, गिरजाघर, गुरुद्वारा आदि धर्मस्थानों से आबद्ध होकर नहीं रह सकता। व्यक्ति घर, दुकान, ऑफिस, श्मशान.....जहां-कहीं अहिंसा, सत्य, प्रामाणिकता, सदाचार आदि तत्त्वों की पालना और आराधना करे, जिस-किसी स्थान में पवित्र हृदय से प्रभु के गुणों का स्मरण करे, वही उसके लिए धर्मस्थान बन जाएगा। (६८)
- धर्माराधना व्यक्ति कहीं भी कर सकता है और जिस समय वह जिस स्थान में धर्माराधना करता है, उस समय वह स्थान उसके लिए धर्मस्थान बन जाता है। (६९)
- संत वही है, जो अनुकूल-प्रतिकूल, सुख-दुःख, लाभ-अलाभ, मान-अपमान, जीवन-मृत्यु आदि सभी प्रकार के द्वंद्वों में समान रूप से आत्म-शांति का अनुभव करता है, समाधि का जीवन जीता है। (६९)
- धर्म जीवन का सर्वोच्च तत्त्व है। सर्वोच्च इसलिए कि जीवन की पवित्रता और आत्मोत्थान मात्र इसी से सधता है। मानसिक शांति और सुख का यह अनन्य हेतु है। (७१)
- संप्रदाय में धर्म नहीं होता, ऐसी बात नहीं है, तथापि इतना सुनिश्चित है कि संप्रदाय धर्म नहीं है। वस्तुतः धर्म किसी भी संप्रदाय में रहनेवाले अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह, त्याग, संयम, सदाचार आदि तत्त्वों का नाम है। संप्रदाय तो इन तत्त्वों की सुरक्षा के लिए होते हैं, इनकी साधना का पथ प्रशस्त करने के

लिए होते हैं। (७१)

- धर्मनीति राजनीति बने, यह कतई उचित नहीं है। इससे धर्मनीति की मौलिकता एवं गुणात्मक को खतरा पैदा हो जाएगा। अलबत्ता राजनीति पर धर्मनीति का अंकुश रहे, इसमें कोई कठिनाई नहीं, बल्कि यह अत्यंत आवश्यक भी है। अन्यथा राजनीति को उच्छृंखल चलने का खुला मैदान मिल जाएगा, जो कि किसी भी समाज और राष्ट्र के व्यापक हितों की दृष्टि से किंचित भी उचित नहीं है। (७१-७२)
- अहिंसा, सत्य आदि तत्त्व **सर्वजनहिताय, सर्वजनसुखाय** होकर भी समाज के लिए एक सीमा तक ही ग्राह्य हो सकेंगे। जहां समाज है, राष्ट्र है, वहां अहिंसा के साथ हिंसा भी चलेगी, सत्य के साथ असत्य भी चलेगा। जिस प्रकार धूप और छांव दोनों का सह-अस्तित्व है, उसी प्रकार लोक-व्यवस्था में हिंसा और अहिंसा, सत्य और असत्य का भी सह-अस्तित्व है। ऐसा कोई युग अतीत में कभी नहीं आया, जिसमें हिंसा का सर्वथा अस्तित्व नहीं था। इसी प्रकार भविष्य में भी कोई ऐसा युग नहीं आएगा, जिसमें हिंसा बिलकुल नहीं रहेगी। मैं इस प्रकार की कल्पना को अव्यावहारिक मानता हूं। (७२)
- धर्म या अहिंसा का काम हृदय-परिवर्तन का है। इस काम को वह बहुत अच्छे ढंग से संपादित कर सकती है। पर मात्र हृदय-परिवर्तन से समाज का आमूलचूल परिवर्तन संभव नहीं है। इसके लिए हृदय-परिवर्तन के साथ-साथ व्यवस्था-परिवर्तन भी अपेक्षित है। जहां इन दोनों का योग होता है, वहां परिवर्तन का सही मार्ग प्रशस्त होता है। स्वस्थ समाज के निर्माण की यही प्रक्रिया है। (७२)
- धर्म हृदय-परिवर्तन का साधन है और हृदय-परिवर्तन जीवन-सुधार का मूलभूत आधार है। इसके अभाव में जीवन-सुधार की कल्पना ही नहीं की जा सकती। (७२)
- स्वयं सुधार के रास्ते पर चलकर ही व्यक्ति दूसरों को उस पथ आने का आह्वान करने का सच्चा अधिकारी बन सकता है। (७३)
- धर्म जीवन का एक अनिवार्य तत्त्व है। इसके अभाव में जीवन स्वस्थ नहीं रह सकता, आदमी अच्छा जीवन नहीं जी

सकता। (७७)

- अपरिग्रह सुखी जीवन का आधार है। परिग्रह दुःख का हेतु है। (७९)
- परिग्रह पदार्थ में नहीं, बल्कि मन में रहता है। वह वृत्तियों से आबद्ध है। (७९)
- मूलतः परिग्रह मूर्च्छा या आसक्ति है और संबन्धतः पदार्थ और वस्तुएं भी परिग्रह हैं। (७९)
- किसी की भी उपेक्षा मत करो, किसी का भी तिरस्कार मत करो, घृणा मत करो। तुम्हारी उपेक्षा संदेह को जन्म देगी। जो संदिग्ध होगा, वह सहिष्णु नहीं होगा। जहां असहिष्णुता होती है, एक-दूसरे को सहन करने की क्षमता नहीं होती, वहां कोई अभय नहीं हो पाता। अभय बिना शांति नहीं होती। यह हिंसा का चक्र है, जो आगे-से-आगे बढ़ता चला जाता है। (८३)
- शांति का एकमात्र आधार है अहंसा। अहंसा उसका ही फलित है। अहंसा में जबरदस्त शक्ति होती है। मैं उसे सबसे बड़ा विज्ञान मानता हूँ। लोग अहंसा की वास्तविक शक्ति से परिचित नहीं हैं, इसलिए हिंसा का सहारा लेते हैं। जिस व्यक्ति को अहंसा की ताकत का सही-सही ज्ञान और अनुभव हो जाता है, वह किसी भी हालत में हिंसा में विश्वास नहीं कर सकता, उसको आधार मानकर नहीं चल सकता। (८५)
- अहंसा धर्म का प्रमुखतम या एकमात्र सूत्र है। एकमात्र इस दृष्टि से कि धर्म के छोटे-बड़े जितने भी साधना-सूत्र हैं, उनके केंद्र में अहंसा ही है। अहंसा को सर्वथा अलग रखकर हम धर्म की कल्पना ही नहीं कर सकते। जो व्यक्ति अहंसा की समग्रता से आराधना करता है, मानना चाहिए कि वह धर्म की समग्रता से आराधना कर रहा है। (८६)
- हिंसा सभी प्रकार की पापकारी प्रवृत्तियों का प्रतिनिधि तत्त्व है। संसार में जितना भी संघर्ष, टकराव, वैमनस्य, अशांति और दुःख हम देख रहे हैं, वह सब इसी हिंसा का परिणाम है। (८६)
- भोग सामग्री-सापेक्ष है, सामग्री परिग्रह-सापेक्ष है और परिग्रह हिंसा-सापेक्ष है। आदमी भोग छोड़ना नहीं चाहता और न परिग्रह ही छोड़ना चाहता है। ऐसी स्थिति में वह चाहकर भी

हिंसा को नहीं छोड़ सकता। (८६)

- अहिंसा मन, वाणी और काया की निर्विकार स्थिति है। निर्विकार स्थिति के लिए बाहरी पदार्थों की सीमा नितांत अपेक्षित है। बाहरी पदार्थ ममकार के निमित्त बनते हैं और ममकार विकार पैदा करता है। (८७)
- आवश्यकताओं का अनियंत्रण/असीमाकरण जीवन में घोर अपवित्रता का विष घोलता है। (८७)
- अर्थ सामाजिक प्राणी की एक अनिवार्य आवश्यकता है। जीवन-यापन के साधन उसी से जुटाए जाते हैं। पर उसको जीवन का साध्य मान लेना अनेकानेक समस्याओं को जन्म देनेवाला है। (८८)
- अहिंसा को आप मात्र जीव को न मारने के अर्थ तक सीमित न करें। यह बहुत व्यापक तत्त्व है। एक अपेक्षा से यह पूरे धर्म का प्रतीक है। (८९)
- अहिंसा पूरे धर्म का प्रतिनिधि तत्त्व है। उसको अलग रखकर हम धर्म को कभी परिभाषित नहीं कर सकते। यदि एक अहिंसा की सुरक्षा कर ली जाती है तो धर्म की सुरक्षा अपने-आप हो जाती है। (८९)
- वह धर्म अधूरा है अथवा मात्र नाम का धर्म है, जिसके प्रवेश के पश्चात भी व्यक्ति के जीवन में पवित्रता की महक नहीं फूटती। (८९)
- हिंसा विनाश का पथ है, जबकि अहिंसा विकास का पथ है, निर्माण का मार्ग है। (९१)
- अहिंसा की शक्ति अचिंत्य होती है। वह व्यक्ति-व्यक्ति के अंतस्तल में पारस्परिक बंधुत्व का भाव जगाती है। (९१)
- जहां हृदय-परिवर्तन घटित होता है, वहां शांति, प्रेम और बंधुत्व की उपलब्धि सहज हो जाती है। (९२)
- जब तक अहिंसा जन-जन के आचरण और व्यवहार का तत्त्व नहीं बनेगी, तब तक व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र और विश्वहकिसी भी स्तर पर शांति की बात व्यवहार्य नहीं बन सकती। (९३)
- विद्यार्थी ही समाज और राष्ट्र का भावी कर्णधार होता है। उसका जीवन जितना अधिक निर्मित होता है, सुसंस्कारित होता है,

समाज और राष्ट्र की उन्नति की संभावनाएं उतनी ही अधिक प्रकट होती हैं, उनका भविष्य उतना ही अधिक उज्ज्वल होता है।(९६)

- पद-लोलुपता एक ऐसा दुर्गुण है, जो अच्छे-से-अच्छे व्यक्तित्व की तेजस्विता को धूमल कर देता है। (९६)
- यश तो अच्छा काम करनेवाले को स्वतः मिलनेवाला तत्त्व है। पर जब वह स्वयं व्यक्ति की आकांक्षा बन जाता है, तब कार्यनिष्ठा गौण हो जाती है और उसके परिणामस्वरूप उसकी कर्मजा शक्ति क्रमशः क्षीण होने लगती है। (९६)
- सच्चरित्रशीलता जीवन-निर्माण का महत्त्वपूर्ण घटक है। (९७)
- मनुष्य को देवता बनाना सुगम है, पर सच्चा मनुष्य बनाना बहुत कठिन है।(९९)
- मनुष्य सेवक बना, पुजारी बना, भक्त बना, पर यदि उसमें चरित्रनिष्ठा नहीं जागी, उसने अपने जीवन को संयम से भावित नहीं किया तो मेरी दृष्टि से वह कुछ भी नहीं बना। मैं हजारों पुष्पमालाओं और धूप-दीपों को संयम और चरित्र के समक्ष कोई महत्त्व नहीं देता।(९९,१००)
- असंयम और शांति का परस्पर कोई संबंध नहीं। दूर का भी संबंध नहीं। (१००)
- वास्तविक ज्ञानी वह है, जिसके जीवन में पुस्तकों का ज्ञान आचार के रूप में उतर जाता है। (१०१)
- आदर्श जीवन ही शिक्षा की कसौटी है। पवित्र जीवन ही हजारों पुस्तकों का सार है। (१०१)
- ज्ञान प्रकाश करनेवाला है। पर ज्ञान प्रकाश तभी करता है, जब व्यक्ति चरित्रसंपन्न हो। चरित्रहीन अथवा आचारभ्रष्ट व्यक्ति हजार पुस्तकें पढ़कर भी स्वयं को प्रकाशित नहीं कर सकता। (१०५)
- जो परंपराएं समय के साथ अपना अर्थ खो चुकी हैं, जिन्हें मात्र रूढ़ि के रूप में निभाया जाता है, उनका व्यर्थ का भार ढोते रहना कोई समझदारी की बात नहीं है। (११०)
- जो परंपराएं जीवन-विकास में बाधक हैं, जिनसे जीवन भारी बनता है, उनको चिंतनपूर्वक बंद कर देना ही विवेक का तकाजा है। (११०)

- कौन कहता है कि नारी अबला हैह? वह तो समस्त शक्तियों का कोष है। (१११)
- नारी माता है। माता समस्त संस्कारों का केंद्र होती है। (१११)
- मानव-जाति का विकास नारी-जाति के विकास पर आधारित है। (१११)
- जो अपना अहित करता है, उसे कैसे समझाया जाएह? (११३)
- जीवन के लिए रूढ़ियां जितनी अनुपयोगी और भारभूत हैं, फैशन की बीमारी भी उतनी ही घातक है। (११४)
- समाज की मूल इकाई व्यक्ति है। अतः व्यक्ति-व्यक्ति का विकास ही समाज का विकास है। (११६)
- शील की रक्षा के लिए आत्मबल के विकास की अपेक्षा है, पर्दे की नहीं। आत्मबल का विकास ज्ञान एवं विवेक-जाग्रति पर निर्भर है। पर्दा ज्ञान एवं विवेक के विकास में स्पष्ट रूप में बाधक है। (११७)
- साधना मात्र योगियों के लिए नहीं, उन सब लोगों के लिए है, जो शांति से जीना चाहते हैं। (१२१)
- दूसरों पर प्रभाव उसी का पड़ता है, जिसका स्वयं का जीवन जाग्रत है। (१२२)
- जीवन को हलका बनाना सुख, शांति और स्वस्थता का तो आधार है ही, आत्म-शुद्धि का भी मौलिक सूत्र है, धार्मिक बनने का प्रशस्त पथ है। (१२६)
- अंकन का मापदंड जाति नहीं, कर्म होना चाहिए। (१२९)
- मानव मानव को अस्पृश्य माने, यह मानव-समाज के लिए अभिशाप है, कलंक है। (१३०)
- चरित्र ही आदमी के व्यक्तित्व की सही कसौटी है। जो व्यक्ति इस कसौटी पर खरा उतर जाता है, उसका व्यक्तित्व सहज रूप से दूसरों के लिए प्रेरणास्पद बन जाता है। (१३२)
- धन से सुख-सुविधाओं के साधन तो जुटाए जा सकते हैं, पर धर्म का उससे कोई संबंध नहीं है, दूर का भी संबंध नहीं है। (१३४)
- महावीर ने जिस धर्म का उपदेश दिया, उसे भले आज जैन-धर्म के रूप में पहचाना जाता है, पर अपने व्यापक स्वरूप में तो वह जन-धर्म ही है। (१३५)

- जब तक मन-मंदिर सदज्ञान की ज्योति से ज्योतित नहीं होता है, तब तक मिट्टी के हजारों दीपक जलने के उपरांत भी अंधेरा ही है। (१३६)
- यदि सच्ची दीपावली मनाना है तो मिट्टी के दीप जलाने और बाहरी ज्योति करने से काम नहीं चलेगा। उसके लिए तो जीवन की ज्योति जल सके, ऐसा प्रयत्न करना आवश्यक है। (१३७)
- महापुरुषों के विराट व्यक्तित्व और उनके विचारों की व्यापकता के समक्ष किसी भी संप्रदाय की बड़ी-से-बड़ी सीमा भी छोटी पड़ती है, बहुत छोटी पड़ती है। (१३७)
- महापुरुष वही होता है, जो स्वयं बोधि को प्राप्त करता है तथा संसार को बोध देता है। (१४२)
- जो स्वयं सत्पथ का पथिक होता है और जन-जन को वह पथ दिखाता है, उस पर चलने की अभिप्रेरणा देता है, उसे ही महापुरुष कहते हैं। (१४२)
- व्यक्ति के उदात्त विचार, गुण और विशेषताएं उसका व्यक्तित्व हैं और यह जीवंत व्यक्तित्व ही उसे शरीर छोड़ देने के उपरांत भी हजारों-हजारों वर्षों तक अमर बनाए रखता है। (१४६)
- देश-काल के बदल जाने पर भी देश-कालजनित स्थिति को न बदलने का आग्रह रूढ़िवाद है। (१५३)
- अनाचार से आचार प्रगट नहीं हो सकता। आचार आचार में से ही उद्भूत हो सकता है। (१५३)
- विकास अविकास की अनुभूति में से ही उपजता है। (१५३)
- सत्य का विकास तब तक पूर्ण नहीं होता, जब तक कषाय का अंश शेष रहता है। (१५३)
- साधना के क्षेत्र में बहुमत, अल्पमत का प्रश्न नहीं है। सचाई का संबंध बहु या अल्प से नहीं होता। (१५४)
- जिसका वर्तमान उज्ज्वल होता है, उसका भविष्य सदा उज्ज्वल होता है। (१६१)
- यदि दुराग्रह न हो तो ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग आदि सबका समन्वय हो सकता है। (१७५)
- जो समाज का अभ्युदय करे, वह समाज की मर्यादा है और जो आत्मा का अभ्युदय करे, वह धर्म है। धर्म से भी समाज का

अभ्युदय होता है, पर वह उसका साध्य नहीं है। सामाजिक मर्यादा से भी धर्माचरण सुलभ होता है, पर वह उसका साध्य नहीं है। (१७७)

- यद्यपि धर्म आत्म-शुद्धि के लिए है, फिर भी काफी दूर तक उससे समाज का भी कल्याण होता है, इसलिए वह उससे सर्वथा असंबद्ध नहीं रहता। (१७७)
- एक से सबका और सबसे एक का हित वहीं हो सकता है, जहां अहिंसा हो। अहिंसा ही सर्वजीवक्षेमंकरि है। (१७८)
- हिंसा यदि समाज में सर्वथा परिहार्य नहीं तो सर्वथा अपरिहार्य भी नहीं। अहिंसा की भित्ति में धर्म और समाज की एकता है, हिंसा की स्थिति में दोनों की दो दिशाएं हैं। (१७८)
- प्रेयस की कामना करनेवाला बंधता है और श्रेयस की आराधना करनेवाला मुक्त होता है। बंधन दुःख है, मुक्ति सुख। (१७८)
- धर्म सार्वभौम होते हुए भी किसी को विवश नहीं करता। (१७८)
- व्यक्ति अपना सुधार नहीं चाहता, समाज का सुधार चाहता है। पर स्वयं को सुधारे बिना समाज का सुधार नहीं हो सकता। अपनी बुराई का प्रतिकार किए बिना समाज के सुधार की बात सोचना धर्म की मौलिकता को न समझने का परिणाम है। जो व्यक्ति धर्म-निष्ठ होता है, वह कहता है कि प्रत्येक का सुधार ही समाज का सुधार है। (१७९)
- भौतिक सुख आत्मा का स्वभाव नहीं है, इसलिए वह न तो धर्म है और न धर्म का साध्य ही। इसलिए उसकी सिद्धि के लिए धर्म करना उद्देश्य के प्रतिकूल हो जाता है। (१७९)
- धर्म के द्वारा ऐहिक अभ्युदय भी होता है, पर धर्म उसके लिए नहीं है। (१८०)
- ध्यान धर्म का प्रमुख अंग है। (१८१)
- यदि व्यक्ति के समक्ष अपने लक्ष्य की स्पष्टता ही नहीं होगी तो वह गति कैसे करेगा? किस दिशा में करेगा? (१८२)
- दर्शन का आधार समाज नहीं है, परंतु समाज निश्चित रूप से दर्शन के आधार पर टिका हुआ है। यदि उसे दर्शन का आधार प्राप्त न हो तो उसका अस्तित्व नहीं रह सकता। मूलतः दर्शन की अपेक्षा सबको है। यह अलग बात है कि बहुत-से लोग उसे दर्शन नाम से नहीं जानते हैं। (१८५)

- अहिंसा और सत्य दोनों ही तत्त्व दर्शन की देन हैं। सहयोग इनका ही परिणाम है। चूंकि समाज पारस्परिक सहयोग के बिना नहीं चल सकता, इसलिए दर्शन समाज के लिए आवश्यक है, बल्कि अनिवार्य है। (१८५)
- आत्मस्थ व्यक्तियों के समूह में कभी कोई अव्यवस्था नहीं होती। (१८५)
- स्थितियों को समझकर जो समुचित पुरुषार्थ करता है, वही सच्चा मेधावी है। ग्रंथों को पढ़कर केवल ज्ञान का भार ढोनेवाला मेधावी नहीं है। (१८८)
- यदि व्यक्ति में अशुभ के परित्याग एवं श्रेय को उपलब्ध करने के लिए पुरुषार्थ नहीं रहा तो वह अपने जीवन में सफलता की एक भी सीढ़ी कैसे चढ़ सकेगा? (१८८)
- सम्बत्सरी आमोद-प्रमोद का पर्व नहीं, अहिंसा और संयम का पर्व है। अहिंसा और संयम की आराधना ही इसकी आराधना है। (१९१)
- आत्म-चिंतन से व्यक्ति अतीत के भार से मुक्त होता है और भविष्य के लिए शुभसंकल्पवान बनता है। (१९२)
- यदि जन्म-दिन को महत्त्वपूर्ण बनाना है तो व्यक्ति को इस दिन गहराई से आत्म-निरीक्षण करना चाहिए। विगत वर्ष का पूरा लेखा-जोखा करना चाहिए। पूरे वर्ष की अपनी सफलताओं और विफलताओं की झांकियों का सिंहावलोकन करना चाहिए। साथ ही आगामी वर्ष के लिए अपने जीवन के प्रति यह मंगल कामना करनी चाहिए कि वह विशेष पवित्र बने, विशेष कार्यकारी बने। (१९८)
- सुख और शांति का सीधा संबंध धर्म से है और धर्म का संबंध धर्मी (आत्मा) से है। पहाड़ों, गुफाओं, जलाशयों..... में वह वास नहीं करता। आकाश और पाताल में भी उसका वास नहीं है। होगा भी कैसे ? वह धर्मी को छोड़कर कहीं जा भी तो नहीं सकता। (२००)
- जिस प्रकार प्रकाश दीपक या चिमनी से पृथक नहीं हो सकता, उष्णता अग्नि से भिन्न नहीं हो सकती, ठीक उसी प्रकार धर्म भी व्यक्ति की आत्मा से अलग नहीं हो सकता। (२००)

- अंतर्मुखी सदा सुखी, बहिर्मुखी सदा दुखी। (२०२)
- श्रद्धा के साथ सद्विवेक का होना भी अत्यंत अपेक्षित है। जहां इसका अभाव होता है, वहां व्यक्ति दुराग्रही बन जाता है। (२०३)
- एक मार्ग पर चलते-चलते यदि कोई दूसरा सरल, स्पष्ट, लक्ष्यगामी एवं सुगम मार्ग उपलब्ध हो जाए तो उसे सहर्ष स्वीकार कर लेना प्रगतिवाद है। (२०३)
- जहां प्रगतिवाद प्रभावी होता है, वहां प्राचीनता और नवीनता का ऐकांतिक आग्रह नहीं हो सकता। (२०३)
- अनावश्यक प्राचीनता को समेटते हुए आवश्यक नवीनता को पचाते जाना विकास का मार्ग है, श्रेय पथ है। (२०३)
- भाषावाद जातिवाद से कम बुरा नहीं है। (२०४)